धर्म-कर्म-रहस्य

(श्रीपण्डित भवानीशङ्करजी के साधनसंग्रह के धर्म-कर्म प्रकरण के आधार पर एक दीन द्वारा संकलित।)

महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा, एम० ए०, डी० लिट०,
वाईस चैनसेलर, इलाहाबाद युनिवर्सिटी
के प्राक्कथन सहित

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम बार १०००   १९२९   मूल्य ।।।)

Dharma-Karma-Rahasya

(A treatise on Hindu religion and morals based on Pandit Bhawani Sankar's Sadhan Samgraha)

WITH A FOREWORD WRITTEN

BY

MAHAMAHOPADHYAYA

DR. PANDIT GANGANATH JHA, M. A., D. LITT.,

Vice-Chancellor, Allahabad University,

First Edition—1000 copies] [*Price per copy—12 annas*

Foreword of M. M. Dr. Ganganath Jha, M.A., D. Litt., Vice-Chancellor, Allahabad University, Allahabad.

—o—

I have gone through portions of धर्मकर्मरहस्य based on the book "Sadhan Samgraha" and am glad to find that it is a very valuable contribution towards the study of the Eternal problems of धर्म and कर्म. I wish our people read the book and pondered over the ideas that are presented in it in a readable form. They are sure to benefit by it.

Opinion of Pandit Gopinath Kaviraj, M.A., Principal, Government Sanskrit College, Benares; Registrar, Sanskrit College Examinations; and Superintendent of Sanskrit Studies, United Provinces, Benares.

——o——

I have glanced through the pages of "Dharma-Karma-Rahasya" based upon Pandit Bhawani Sankar's Sadhan Samgraha with great interest. The book has impressed me as a very useful work dealing with the problems of moral and religious life and with the doctrine of "Karma" in all its implications and bearings. Though in some places, one may feel inclined to differ from the author in regard to the presentation and interpretation of certain truths, there is no gainsaying the fact that the general treatment of the subject is uniformly lucid, illuminating and logically coherent. The author has sought to analyse the moral basis of our social life and to bring out the ultimate principles in which the formation of character is really grounded. In view of its simplicity of style and clearness of presentation the book may be strongly recommended for the use of the Hindi-reading public in general and of the community of students in particular. In these days of cultured materialism, works of this nature ought to be in the hands of every thoughtful man and woman who has the welfare of the society at heart.

Opinion of Pandit Girindramohan Misra, M. A., B. L., M. L. C., (B. and O.), Advocate, Darbhanga—

—o—

"I have gone through the book "धर्म-कर्म-रहस्य" which scientifically deals with the main aspects of Dharma. The true cardinal principles of Dharma which have been lucidly treated in the book may well be said to be common to all religions. The book can be safely recommended as a suitable text-book on the subject of religious and moral instruction for Hindu boys in our schools. The author who is a Beharee of experience deserves best congratulations for writing such a useful book which was so much needed in order to supplement the education which our boys are receiving in the present day schools."

I have read Dharma-Karma-Rahasya with great pleasure. It is. indeed, a very fine book on Hindu religion, remarkable for its wealth of excellent ideas, originality of treatment and simplicity of language. The author has successfully tried to give a scientific exposition of the fundamental principles of Hindu Dharma and bring out the basic beauties of the social life of India. The book will undoubtedly prove very helpful not only to the Hindu students of all institutions but also to all those interested in the study of Hindu religion.

There was, as a matter of fact, a long-felt need for such a book, specially in this province, wherein religious instruction has become compulsory. The book is written by a Beharee, who is held in esteem both for his experience and devotion to religion; it should therefore be the more welcome to the Patna University as well as the schools and colleges of Bihar.

I. D. Daurgadatti,
Principal,
D. S. Sanskrit College,
Muzaffarpur.

विषय-सूची

भूमिका—

श्रीगणेशाय नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्या नमः

धर्म-कर्म-रहस्य

धर्म का तत्त्व

धर्म शब्द धृञ् धातु से निकला है। इसका अर्थ धारण करना अथवा पालन करना है। जो इस संसार और इसके प्राणियों के यथार्थ स्वयंसिद्ध स्वभाव और नित्य के कल्याणकारी व्यवहार का आधार है, जो सब प्रकार के अभ्युदय का कारण है और जिसके विना यह संसार उत्तम रूप से चल नहीं सकता वही धर्म है। ईश्वर धर्म ही द्वारा संसार की वृद्धि, रक्षा और पालन करते हैं, अतएव वे धर्म रूप कहे जाते हैं—

नारायणोपनिषत् का वचन है—

धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
लोके धर्म्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्म्मेण पापमपनुदति, धर्म्मे सर्व्वं प्रतिष्ठितं,
तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्तीति॥

धर्म ही जगत् का आधार है, संसार में सब प्रजा धर्मिष्ठ का ही अनुसरण करती हैं, धर्म से पाप दूर होता है, धर्म्म ही में सब ठहरे हुए हैं, अतएव धर्म्म को ही श्रेष्ठ पदार्थ कहते हैं।

महाभारत का वचन है—

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्द्धर्म्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

शान्तिपर्व अ० १०९।

धारण करता है, इस निमित्त धर्म नाम हुआ; जिसमें धारण (रक्षा और पालन) की शक्ति है वही धर्म है। धर्म का मूल यों है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् सङ्कल्पजं कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

याज्ञवल्क्य।

धर्म्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात ! प्रवृत्ताः सचराचराः॥

महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय ३०९।

विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसां गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः सगुणोऽधर्म्म उच्यते॥

श्रुति, स्मृति, सदाचार, अन्तरात्म-प्रियता और विहित और शुभ सङ्कल्प धर्म के मूल हैं। सत्पुरुष का धर्म ही हित है, वही आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म से ही चलते

हैं। मनुष्य के कल्याण के कर्म करने में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है वह धर्म है और हिंसादि निषिद्ध कर्मों के करने में जो रुकावट होती है वह अधर्म है।

सृष्टि के पूर्व एक ईश्वर ही थे (एकमेवाद्वितीयम्-श्रुति—ईश्वर निश्चय अकेले थे, कोई दूसरा नहीं था)। ईश्वर में सृष्टि के उद्भव का सङ्कल्प हुआ (सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति—तैत्तिरीयोपनिषत्—ईश्वर ने अनेक प्रजा के उद्भव का संकल्प किया)। यही ईश्वर की आदि-सङ्कल्परूपी उनकी दिव्य (परा) प्रकृति सृष्टि का जीवन-मूल, आधार और सञ्चालक है (श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७ श्लोक ५)। यह आदि-सङ्कल्प किसी स्वार्थ-साधन के लिए नहीं हुआ, क्योंकि ईश्वर को न तो कुछ अप्राप्त है और न कोई कर्तव्य (गीता अ० ३ श्लोक २२)। अतएव यह सङ्कल्प स्वार्थ-मूलक न होकर परार्थ-मूलक अर्थात् तप और यज्ञ है। (उक्त आदिशक्ति ही गायत्री हैं अर्थात् त्राण करनेवाली हैं और वेद अर्थात् परा विद्या का मूल हैं जिससे धर्म की उत्पत्ति हुई। इसका भाव यह है कि ये त्राण करनेवाली शक्ति केवल धर्म द्वारा त्राण करती हैं।) इस आदि-सङ्कल्प द्वारा ईश्वर ने अपने समान अनेक प्रजा को उत्पन्न करने (एकोऽहं बहु स्याम्—श्रुति—एक हूँ, अनेक हो जाऊँ) और उनको अपने ब्रह्मानन्द, दिव्य शक्ति, सामर्थ्य आदि के सम्प्रदान अर्थात् यज्ञ (स्वाहा) करने का सङ्कल्प किया और यही इस सृष्टि-यज्ञ का मुख्य तात्पर्य्य है।

ईश्वर ने अपने इस आदि-सङ्कल्प की पूर्ति के लिये अपनी सङ्कल्प-रूपी प्रकृति से अपने को स्वेच्छा से आवद्ध अथवा आवर्णित किया (गीता अ० ६, श्लोक १७ और "अन्नेनाति-रोहति"—पुरुषसूक्त—ईश्वर ने अन्न अर्थात् अपनी अवस्था का सृष्टि के निमित्त अतिक्रमण किया)। इस प्रकार ईश्वर ने अपने को अपरिच्छिन्न से परिच्छिन्न, ज्योतिर्मय से तमस् (प्रकृति) से आवृत, सत् सत्ता को असत् (माया) से आवृत किया। इस द्वंद्व के विना सृष्टि की रचना हो नहीं सकती थी। इतने पर भी वे प्रकृति और माया के नियामक ही रहे। यह ईश्वर के लिये तपस्या अर्थात् यज्ञ है (स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम-सृजत्—तैत्तिरीयोपनिषत्—ईश्वर ने तप करके सृष्टि को सिरजा)। इसलिये ईश्वर का नाम यज्ञपुरुष और यज्ञवाराह हैं और इस यज्ञ में वे सदा निष्काम भाव से संसार के हित के लिये प्रवृत्त रहते हैं (गीता* अ० ३ श्लोक २२ और २४ और अ० ४ श्लोक ७ और ८)। यज्ञ द्वारा सृष्टि के उद्भव होने के कारण यज्ञ-धर्म ही इसके कल्याण का एक मात्र साधक हुआ (गीता अ० ३ श्लोक १०)। यथार्थ में ईश्वर ने स्वयं यज्ञ की सामग्री वनकर अपने को यज्ञ (स्वाहा) किया अर्थात् अपनी शक्ति

---

* इस पुस्तक में गीता शब्द से श्रीमद्भगवद्गीता समझना चाहिए और जहाँ केवल एक अङ्क के बाद लकीर देकर फिर अङ्क हो वहाँ पहिला अङ्क गीता का अध्याय और लकीर के बादवाला श्लोक-संख्या समझना चाहिए।

द्वारा सर्वत्र व्याप्त हो गये (गीता अ० १० श्लोक ४२) जिसमें उनकी शक्ति द्वारा सचराचर भी यज्ञ सम्पादन कर सहयोग दें। गोपालतापिनी उपनिषत् का वचन है—"स्वाहाऽऽश्रितो जगदेतत्सुरेताः"। ईश्वर ने सुरेता होकर के स्वाहा अर्थात् प्रकृति का आश्रय करके जगत् का संचालन किया। पुरुषसूक्त का वचन है—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतं" अर्थात् उस आदि यज्ञ में ईश्वर ने अपने को आहुत किया और उसी से देवता रूपी पशु, वेद (धर्म का मूल) आदि की उत्पत्ति हुई। फिर इन देवता, ऋषि आदि ने ईश्वर की उस दिव्य आध्यात्मिक शक्ति (गायत्री) की यज्ञ में आहुति देकर अर्थात् प्रयोग कर मन्त्र-शक्ति के बल से सृष्टि में अन्य प्राणियों का उद्भव किया। पुरुषसूक्त का वचन है—

"तं यज्ञम्बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषञ्जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साद्ध्या ऋषयश्च ये।
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत"।

अग्रजात यज्ञ-पुरुष ईश्वर को यज्ञ-सामग्री बना (उनकी शक्ति का प्रयोग कर) साध्य, देव और ऋषिगणों ने यज्ञ किया (अर्थात् उत्तर सृष्टि की रचना की)। देवताओं ने इस यज्ञ-पुरुष का हवि की भाँति प्रयोग कर यज्ञ किया (अर्थात् सृष्टि के उत्पादन में प्रयोग किया)। और भी पुरुषसूक्त का वचन है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्—

देवताओं ने यज्ञ से यज्ञपुरुष ईश्वर का यजन किया और इसी कारण यज्ञ ही सब धर्मों (कर्त्तव्यों) का मूल हुआ। अतएव इस सृष्टि-यज्ञ में यज्ञ द्वारा सहयोग करना धर्म और असहयोग अधर्म है। यह यज्ञ-धर्म मुख्य कर यही है कि ईश्वर के निमित्त उनको एकमात्र आदर्श बनाकर अपने को और दूसरों को भी ऐसा स्वच्छ, पवित्र, निष्कल्मष, शुद्ध, निर्मल और निःस्वार्थ बनाने का यत्न करना जिससे अपने में और दूसरों में भी ईश्वर के दिव्य गुण, सामर्थ्य आदि सृष्टि के हित के लिये प्रकाशित हों और ऐसा होने पर ईश्वर में सेवार्थ (यज्ञार्थ) आत्मा को अर्पित कर और ब्रह्मानंद का लाभ कर उस ब्रह्मानंद को दूसरों में यज्ञ द्वारा वितरण करना अर्थात् दूसरों को उसके लाभ के योग्य बनाना।

मनुष्यशरीर पिण्डाण्ड (छोटा ब्रह्माण्ड) है और दोनों के प्रायः एक से सामग्री और नियम हैं। यह शरीर भी अनेकानेक अणु, परमाणु, इन्द्रिय आदि के सङ्गठन का परिणाम है जिनके भिन्न भिन्न रहने पर भी यथार्थ में उनमें एकता है, क्योंकि वे एक शरीर के ही अभिन्न रूप में भिन्न भिन्न भाग हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा का आज्ञा-पालन और हित-साधन करना है। इसके सम्पादन के लिये प्रथम तो उन सब ने अपने अपने पृथक् स्वार्थ का स्वाहा (यज्ञ) कर दिया है और दूसरे दृढ़ सङ्गठन द्वारा परस्पर अभिन्न होकर और एक बनकर केवल अपने

एकमात्र उद्देश्य, जीवात्मा के आज्ञा-पालन और हित-साधन में अनवरत रत रहते हैं जिसकी सिद्धि के लिये एक दूसरे की सहायता कर वे कार्य्य करते हैं। ऐसा करने से पृथक् स्वार्थ न रखने पर भी समूह के साथ साथ भिन्न भिन्न भाग की स्थायी उन्नति होती रहती है। शरीर के अणु-गण यदि अपनी स्वतन्त्रता और भिन्नता को त्यागकर आपस में के सङ्गठन का विच्छेद कर दें और पृथक् तथा स्वतंत्र हो जायँ, तो उसी क्षण शरीर नष्ट हो जायगा और पृथक् रहने से वे भी उन्नति न कर नष्ट-प्राय हो जायँगे। सङ्गठन के कारण अणु-गण शरीर के गुणों का स्वभाव प्राप्त कर क्रमशः उन्नति कर रहे हैं; निम्न श्रेणी के शरीर के अणुगण उत्तम स्वभाव लाभ करने से अपने से उच्च श्रेणी के शरीर में प्रविष्ट होते हैं और उनके स्थान पर नीचेवाले उन्नति कर आ जाते हैं। इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ सङ्गठित रूप में एक न होकर और परस्पर में एक दूसरे को साहाय्य न देकर पृथक् भाव से कार्य्य करें, तब न तो किसी कार्य की सिद्धि होगी और न अन्तरात्मा को लाभ होगा। इसके सिवा इन्द्रियों की भी रक्षा और उन्नति न होकर क्षति होगी। यदि पग के चलने के काम में नेत्र खाई, गड़हे आदि रुकावट को देखकर उनकी सूचना देकर पग को न बचावे तब पग के खाई आदि में गिरने से पग को चोट आने के सिवा नेत्र को भी चोट लगेगी। यदि नेत्र कोई दूर की आवश्यक वस्तु को देखना चाहे किन्तु पग चलकर वहाँ न जाय तो नेत्र उसको देख

नहीं सकता। यदि पग में चोट लगने पर हाथ मलहम पट्टी द्वारा उसके मिटाने का यत्न न करे, तो जब हाथ कोई दूर की वस्तु को लेना चाहेगा तब पग के असमर्थ रहने के कारण उस वस्तु का हस्तगत होना सम्भव नहीं है। उदर की क्षुधा-निवृत्ति के लिये यदि हाथ पाँव भोजन का जुगाड़ न करें, तो उससे उदर की हानि के सिवा हाथ पाँव की भी हानि होगी; क्योंकि उदरस्थ भोजन द्वारा ही हाथ पाँव आदि की भी पुष्टि होती है। सत्य यह है कि शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग के सुख दुःख समान हैं, एक के सुख से दूसरे सुखी और दुःख से दुःखी होते हैं, अतएव समूह के सुख की वृद्धि और दुःख की निवृत्ति से ही प्रत्येक भाग का कल्याण होता है। इसी प्रकार परम पुरुष के विश्वव्यापी यज्ञ का फल यह विश्व ब्रह्माण्ड ईश्वर का विराट् शरीर है (जिसका सविस्तर वर्णन पुरुषसूक्त में है) जिसके प्रत्येक प्राणी अभिन्न रूप में अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं। अतएव वे सब एक हैं (पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्—पुरुषसूक्त—ये सब एक परमपुरुष ही हैं, जो हुए और होंगे) और बाह्य प्राकृतिक दृष्टि से नानात्व रहने पर भी अन्तरस्थ परमात्म-दृष्टि से नानात्व नहीं है (नेह नानाऽस्ति किञ्चन—यहाँ नानात्व नहीं है)। अतएव प्रत्येक प्राणी का यह परम कर्तव्य है कि ब्रह्माण्ड-नायक परम यज्ञ-पुरुष के आदि-सङ्कल्प (सर्वत्र अपने दिव्य गुणों का प्रकाश और ब्रह्मानन्द का वितरण) की पूर्ति के लिये यज्ञ-धर्म का सम्पादन करे जिस यज्ञ का आधार यह सर्वो-

त्मभाव है। इसी कारण विश्व में सब के सब केवल उस आनन्द का ही अन्वेषण कर रहे हैं किन्तु अज्ञानता के कारण उपयुक्त स्थान को छोड़कर बाह्य विषय में, जहाँ उसका स्वतः अभाव है किन्तु जहाँ केवल उसकी छायामात्र है, खोजते हैं और दुःख भोगते हैं। विषयी लोग भी विषय-सुख में इस आनन्द का ही अन्वेषण करते हैं। इस यज्ञ-धर्म की भित्ति है पृथक्-भाव और स्वार्थ को स्वाहा (त्याग)कर सर्वात्मभाव की दृष्टि को धारण करना, इस कारण दूसरे के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझ उनके यथार्थ सुख की वृद्धि और दुःख की निवृत्ति के लिये यथासाध्य यत्न करना और इस प्रकार इस यज्ञ-धर्म द्वारा यज्ञपुरुष ईश्वर का भजन करना (गीता अ० ६ श्लो० २९ से ३२ तक) चाहिए। इस बाह्य नानात्व में एकात्मभाव रूप धर्म के अभ्यास (समदर्शिता) से ईश्वर के दिव्य गुणों को अपने में प्रकाशित कर ईश्वर की प्राप्ति और उनके आदि-सङ्कल्प की पूर्ति होती है (गीता अ० १३ श्लो० ३ अथवा ३१ और मनुस्मृति अ० १२ श्लोक १२५)*।

ऊपर के कथनानुसार धर्म यथार्थ में यज्ञ अर्थात् त्याग-मूलक है। यथार्थ यज्ञ सर्वदा परार्थ के निमित्त स्वार्थ का

* एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्। इस प्रकार जो मनुष्य जीवों में आत्मरूप से अपने को देखता है, वह सब में समत्वभाव प्राप्त करने से सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म-पद को प्राप्त होता है।

त्याग है, कदापि स्वार्थ-मूलक नहीं है। ईश्वर स्वयं सृष्टि-हितार्थ अपने दिव्य गुण, सामर्थ्य और आनन्द को वितरण करने के लिये यह सृष्टि-यज्ञ कर रहे हैं जिसके वे अधिष्ठाता हैं और प्रत्येक प्राणी अध्वर्यु अथवा 'होता' है। यह यज्ञ, जिसका अनुष्ठान प्राणियों के कल्याण के लिये ही किया गया है, उसमें प्रत्येक प्राणी जो "होता" है उसको अपने अपने नियत कर्तव्य का पालनरूपी होम करना चाहिए ताकि यज्ञ की पूर्ति होकर सबों का कल्याण हो। इस विश्व-विराट् रूपी महायज्ञ में जिस व्यक्ति का उसकी योग्यता, स्वभाव, अवस्था आदि के अनुसार जो नियत स्थान और कर्त्तव्य है उसका निःस्वार्थ भाव से यज्ञ (कर्तव्य) की भाँति पालन करना उसका मुख्य धर्म है और इसी की संज्ञा सहज धर्म, स्वधर्म और विशेष धर्म है। यह भिन्न भिन्न लोगों का भिन्न भिन्न प्रकार का है और वर्णाश्रम धर्म, सांसारिक व्यवसाय आदि इसी के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह के अपने अपने विशेष धर्म के पालन करने पर ही उसका और जनसमुदाय का भी कल्याण है और इसी प्रकार उसका पालन न करने से उसकी और जनसमुदाय की भी हानि है। यदि अन्न उपजानेवाले अपने स्वधर्म—अन्न उपजाने के कर्तव्य—का पालन न करें तो अन्न के अभाव से उनकी और जनसमुदाय की भी हानि होगी। इसी प्रकार वस्त्र का आयोजन करनेवाले यदि अपने स्वधर्म की उपेक्षा करें तो वे स्वयं और दूसरे भी विवस्त्र रहेंगे। कर्तव्य को धर्म की दृष्टि

से, विहित रीति से, करने से वह यज्ञ अर्थात् ईश्वर-सेवा है (गीता अ० १८ श्लो० ४६) किन्तु स्वार्थ निमित्त, अविहित, और अन्याय द्वारा करने से वह दुःख और बन्धन का कारण होता है। इन विशेष-धर्मों के सिवा ऐसे भी धर्म हैं जो जन-समाज और उसके विशेष-धर्म की भी भित्ति हैं, जिनके पालन बिना न सुख से समाज चल सकता और न विशेष-धर्म का उचित पालन हो सकता है। उनके पालन के अभाव में न तो समाज को यथार्थ लाभ हो सकता है और न व्यक्ति विशेष को किन्तु सबों की परम हानि है। ये धर्म ईश्वर के ही दिव्य गुण हैं जिनकी संज्ञा गीता में दैवी-सम्पत्ति है (गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तक) और उनको अभ्यास द्वारा अपने में और दूसरों में भी प्रकाशित करना और करवाना तथा आसुरी-सम्पत्ति (गीता अ० १६ श्लोक ४ और ५) जो ईश्वर के दिव्य गुण आदि के प्रकाश में बाधक हैं और सृष्टि-यज्ञ के विरुद्ध हैं उनका दमन करना सब का परम और मुख्य यज्ञ-धर्म है, क्योंकि इसके द्वारा ईश्वर के आदि-सङ्कल्प की पूर्ति होती है। इनको साधारण धर्म कहते हैं जिनका विशेष वर्णन पीछे होगा। इस यज्ञ-धर्म में इन्हीं स्वार्थ-मूलक आसुरी सम्पत्ति का त्याग अथवा बलि करना है, न कि परार्थ-मूलक धर्म अथवा कर्तव्य-पालन का। यह स्वार्थभाव—सृष्टि की भित्ति—सर्वत्र-एकात्मभाव* का विरोधी है क्योंकि इसके द्वारा

* इस पुस्तक में जहाँ कहीं एकात्म-भाव शब्द है वह अद्वैत, द्वैत

पर के अहित से भी निज-हित-साधन किया जाता है। किन्तु यह स्वार्थभाव और इसका साधन, सृष्टि के ईश्वरीय नियम (यज्ञ) के विरुद्ध होने के कारण, यथार्थ में कदापि सुखद नहीं है वरन् अनर्थ का मूल है, यद्यपि प्रमाद से क्षणिक सुख का कारण मालूम पड़ता है। गीता का वचन है कि परोपकारार्थ यज्ञ (त्याग) न करनेवाले को इस लोक में भी सुख नहीं मिलता, परलोक तो दूर रहा (अ० ४ श्लोक ३१)।

सब जीवों के इस सृष्टि रूपी विराट-पुरुष परमात्मा के भिन्न भिन्न अङ्ग प्रत्यङ्ग होने के कारण, एक की हानि और लाभ से दूसरे की भी हानि और लाभ है। एक की सहायता की अपेक्षा दूसरे को रहती है जिसके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति के, वह कितना भी प्रभाव और वैभवशाली क्यों न हो, केवल शरीर-यात्रा के दैनिक कार्य भी बिना दूसरों की सहायता के कदापि सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। अतएव सब को इस नानात्व में एकात्म भाव का खयाल रखकर आपस में एकता और प्रेम का बर्ताव रखना, विरोध त्यागना और एक को दूसरे का उपकार और

आदि किसी एक सिद्धान्त का सूचक नहीं है किन्तु विलक्षण साधारण-भाव में व्यवहृत है। इस शब्द का यही भाव है कि परमेश्वर सृष्टि के एक मात्र आदि-कारण, नियामक और सर्वत्र व्याप्त हैं जिसके कारण चैतन्य सत्ता में एकता-समानता है और जड़-सत्ता के कारण नानात्व है।

सहायता करना मुख्य धर्म है; किन्तु इसके विरुद्ध जो दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते और द्वेष तथा हानि करते अथवा ऐसा करने की इच्छा करते हैं; वे वैसा करने से, इस विराट् के एकात्मभाव के विरुद्ध हो जाने से, अपनी और विश्व की भी हानि करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है—

इदं मानुषं सर्व्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्व्वाणि भूतानि मधु ॥ १३ ॥

अयमात्मा सर्व्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्व्वाणि भूतानि मधु ॥ १४ ॥

सब भूतों के लिये मनुष्य मधु अर्थात् आवश्यक और लाभकारी है और मनुष्य के निमित्त सब भूत मधु हैं ॥ १३ ॥ सब भूतों के लिये आत्मा मधु है और आत्मा के निमित्त सब भूत मधु हैं ॥ १४ ॥

श्री शङ्कर स्वामी का वचन है—

यस्मात् परस्परोपकार्येऽपि कारकभूतं जगत् सर्व्वं पृथिव्यादि ।

पृथिवी आदि विश्व की वस्तु मात्र परस्पर में एक दूसरी वस्तु से उपकार प्राप्त करती है और दूसरी वस्तु का उपकार करती है।

यह विश्व एक वृक्ष की भाँति है जिसके बीज को, जो परमात्मा का स्वयं चेतन अंश है, ईश्वर ने प्रकृति रूप क्षेत्र में

स्थापन किया। जैसे बीज में सम्पूर्ण वृक्ष (जिसका वह बीज है) गुप्त रूप से निहित रहता है, वैसे ही इस सृष्टि के बीज में ईश्वर की सम्पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य गुप्त रूप से वर्तमान रहते हैं जिनका विकाश और प्रकाश बीज को विश्वरूप वृक्ष होकर क्रमशः धीरे धीरे करना होता है। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

> मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
> सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
>
> १ अ० १४।

हे भारत! महद् ब्रह्म मेरी योनि है जिसमें मैं गर्भ प्रदान करता हूँ, जिससे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। उस बीज का यह विश्वरूप वृक्ष परिणाम है जिसके विकाश का उद्देश्य यह है कि अन्त में इसमें ऐसे उत्तम फल होवें जो बीज में के निहित सब दिव्य गुण, सामर्थ्य, शक्ति आदि को विश्व के हित के लिये प्रकाशित करें और यह इस सृष्टि का परमोत्तम फल मनुष्य के लिये परम सिद्धावस्था का प्राप्त करना है। सब प्राणी परमात्मा के विराट् रूप के भिन्न भिन्न अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं, अतएव प्रत्येक अङ्ग के निमित्त अपना अपना नियत कर्म है जो उसका स्वधर्म और विशेष धर्म भी है। उसको ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे सम्पूर्ण की उन्नति हो जो परम धर्म है, और कोई ऐसा कार्य कदापि नहीं करना

चाहिए जिससे किसी एक अङ्ग अथवा सम्पूर्ण की हानि हो अथवा परमात्मा के दिव्य गुण आदि के विकाश में बाधा हो (जो सृष्टि का मुख्योद्देश्य है) जो परम अधर्म है, क्योंकि सम्पूर्ण की उन्नति से उसके अंश की भी उन्नति होती है और समूह की हानि से अंश की भी हानि होती है। धर्माधर्म की यह कसौटी है। उच्च दृष्टि में जिस कर्म से परमात्मा के दिव्य गुण आदि (दैवी सम्पत्ति) का विकाश हो वह धर्म है और जिससे इसमें बाधा पड़े वह अधर्म (आसुरी सम्पत्ति) है। गीता अ० १६ के प्रारम्भ में दोनों प्रकार की सम्पत्ति का उल्लेख है। जैसे वृक्ष के एक अङ्ग को हानि पहुँचाने से सम्पूर्ण वृक्ष की हानि होती है, वैसे ही यदि एक प्राणी दूसरे की हानि करेगा तो उससे हानि करनेवाले की भी हानि हो जायगी, क्योंकि दोनों एक ही विश्व-वृक्ष के भिन्न भिन्न अङ्ग हैं। जैसे वृक्ष के केवल एक अङ्ग को जल से सिक्त करने पर भी उस अङ्ग की वृद्धि उस जल द्वारा न होगी किन्तु वही जल यदि उस वृक्ष के मूल में दिया जायगा तो सम्पूर्ण वृक्ष की और उसके साथ उसके भिन्न भिन्न सब अङ्गों की वृद्धि होगी, वैसे ही इस जगत् में केवल अपने स्वार्थ के निमित्त यत्न करने से किसी की यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती है, किन्तु केवल स्वार्थपरायण न होकर जो सृष्टिमात्र की भलाई अर्थात् परोपकार करने में प्रवृत्त होगा उससे उसकी अपनी भी यथार्थ भलाई होगी। जो समूह के हित के लिये अपने क्षुद्र स्वार्थ को त्यागेगा वही अपनी यथार्थ उन्नति

सम्पादन करेगा। ऐसे त्यागी व्यक्ति के द्वारा किसी की भी कदापि हानि होना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वार्थ के ही कारण कोई किसी की हानि करता है। धर्मरूपी जल से सींचे जाने से इस जगत् रूपी वृक्ष की वृद्धि होती है, जो परमात्मा को परम अभीष्ट और सृष्टि का उद्देश्य है, अतएव संसार में धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करने के निमित्त यत्न करना सब का परम धर्म है और इसी धर्म के द्वारा सब का यथार्थ कल्याण होता है। अपनी कुछ हानि करके भी दूसरे का उपकार, विशेष-कर पारलौकिक उपकार, करना उत्तम धर्म है।

विशेष धर्म

पूर्व-वर्णित सिद्धान्त से व्यवहार में धर्म का मुख्य लक्षण प्रत्येक व्यक्ति का उसके जन्म, स्वभाव, योग्यता, अवस्था, प्रवृत्ति, अवसर आदि के अनुसार जो उचित और नियत कर्तव्य इस विश्वविराट् में हो और जो अपने सम्बन्धी, आश्रित, संसर्गी, विश्व के प्राणी आदि के प्रति कर्तव्य हो, उनका धर्म की भाँति बिना दूसरे की क्षति किये हुए सम्पादन करना और उनके सम्पादन के लिये जो विशेष योग्यता सामग्री आदि की आवश्यकता हो उनकी भी कर्तव्य की भाँति प्राप्ति के लिये चेष्टा करना और इन सब का सम्पादन करते हुए और सर्वात्म में एकात्मभाव की धारणा रखके सृष्टि के मुख्य लक्ष्य ईश्वर के सृष्टि-यज्ञ की

पूर्ति के लिये उसमें सहयोग देना और अन्तिम लक्ष्य आत्मा को परमात्मा में सेवार्थ अर्पण करना है। इस विश्व-विराट् में जो जिसका नियत स्थान और कार्य है उसका उचित रीति से, कर्तव्य की भाँति, पालन करना उसका प्रथम (मुख्य) धर्म है जिसको केवल वही कर सकता है, अन्य नहीं और उसके न करने से विश्व-विराट् की क्षति होगी और साथ साथ उसके उसकी भी। यही उसका स्वभावज अथवा सहज धर्म है और इसी को स्वकर्म अथवा स्वधर्म भी कहते हैं और इसी के ऊपर वर्णाश्रम-धर्म स्थापित है (गीता अ० ४–१३ और १८–४१ से ४८ तक)। अतएव प्रत्येक व्यक्ति संसार में अपने अपने स्थान में आवश्यक और उत्तम है और कोई शूद्र अथवा छोटा नहीं है। ब्राह्मण का शम दमादि से युक्त हो लोक-हित के लिये ज्ञान और धर्म का प्रचार, बिना क्षत्रिय की रक्षा और सुराज्य के प्रबन्ध के, हो नहीं सकता। इन दोनों की और अन्य की भी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति—जैसे कि खाद्य पदार्थ, वस्त्र, सवारी, गृह आदि—बिना वैश्य द्वारा सम्पन्न किये हो नहीं सकती है। इसी प्रकार यदि शूद्र अपने शरीर से परिश्रम कर इन परमावश्यक पदार्थों को उत्पन्न न करे तो संसार में किसी का कार्य चल नहीं सकता और किसी की शरीरयात्रा निभ नहीं सकती है और अन्न वस्त्र उत्पन्न हो नहीं सकते हैं। अतएव शूद्र इस विराट् शरीर के यथार्थ में आधार हैं, अतएव वे इस दृष्टि से

सबों से उच्च हैं। प्रत्येक वर्ण अपने अपने स्थान में उत्तम और आवश्यक है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य सभी के लिये, अपने अपने धर्म के पालन के निमित्त, आवश्यक गुण और योग्यता की प्राप्ति का साधन है जिसके बाद धर्म का अभ्यास गृहस्थाश्रम से प्रारम्भ होकर संन्यास में समाप्त होता है। ये चार वर्ण और चार आश्रम कदापि किसी समाज-विशेष अथवा उसके व्यक्तियों के स्वार्थ-साधन के लिये नहीं बने, जैसा कि आजकल अनेक लोगों की धारणा है। ये केवल विश्व-विराट् अथवा राष्ट्र की उन्नति और कल्याण के निमित्त यज्ञ (त्याग) करने के लिये ही बनाये गये और इस प्रकार अधिक योग्यतावालों के लिये अधिक त्याग का विधान हुआ। ब्राह्मणों का धर्म इस महायज्ञ में मुख्यकर ज्ञान के प्रचार का कार्य हुआ और इसी निमित्त शिक्षा का दान करना उनका मुख्य धर्म हुआ जिसके लिये किसी रूप में वेतन लेना गर्हित कर्म समझा गया, बल्कि विद्यार्थियों के ठहरने के लिए स्थान का प्रबन्ध करना और उनको अपने गृह में स्थान देना शिक्षक का कर्तव्य हुआ। ब्राह्मण की जीविका के निर्वाह का उत्तम उपाय शिल-वृत्ति रक्खी गई। खेत के काटे जाने पर उसमें गिरे अन्न के गुच्छे को चुनकर उससे निर्वाह करना शिलवृत्ति है। इससे भी उत्तम उञ्छ वृत्ति है जिसमें गुच्छे को न चुनकर केवल अन्न के एक एक दाने के चुनने का विधान है। इन दोनों वृत्तिवालों को अयाचित दान लेने का भी निषेध है। इन दोनों से नीचे वे हुए जो बिना

माँगे मिले दान से अपना निर्वाह करते हैं। याचना करके अपनी जीविका निर्वाह करनेवाले की वृत्ति को मृत अर्थात् मुर्दे का निन्दनीय व्यवसाय समझा गया। खेती की जीविका उससे भी निन्दित अर्थात् प्रमृत समझी गई। परोपकार ब्राह्मण का मुख्य धर्म हुआ—मनु का वचन है "मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" अर्थात् परोपकारी ही ब्राह्मण है। इसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति, यज्ञ-साधन, दान अर्थात् परोपकार और लोगों की रक्षा के लिये अपने शरीर का भी सुखपूर्वक त्याग करना क्षत्रिय-धर्म है। धर्म की रक्षा, अधर्म का नाश, न्याय. सत्य आदि कल्याण-कारी व्यवहार का प्रचार प्रभृति लोकहित के कर्म करना भी उनका कर्तव्य हुआ। वैश्य इस विश्व-विराट् राष्ट्र के भण्डारी हुए जिनका मुख्य धर्म अन्न, वस्त्र, धन आदि राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करना, न कि केवल अपने लिये जमा करना, है। शूद्र का धर्म शरीर से कार्य कर अन्न आदि जो जीवन की रक्षा के लिये परमावश्यक हैं उनको उत्पन्न करना हुआ। यह वर्णव्यवस्था गुण कर्म के अनुसार हुई और इसमें गुण की अधिकता होने से तरक्क़ी भी होती थी। गीता का वाक्य है कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागयोः" अर्थात् श्रीभगवान् कहते हैं कि मैंने चारों वर्णों को उनके गुण कर्म के अनुसार बनाया। यथार्थ वर्ण जीवात्मा का आभ्यन्तरिक गुण है और गुणानुसार ही आभ्यन्तरिक तेज का वर्ण (रङ्ग) रहता है। जिनको दिव्य दृष्टि प्राप्त है वे किसी व्यक्ति के तेज के वर्ण

को, जो उसके मस्तक के चारों ओर व्याप्त रहता है, देखकर कह सकते हैं कि उसमें कौन गुण प्रधान है, कौन गुण गौण और कितना दुर्गुण है। वर्णव्यवस्था का यथार्थ अभिप्राय यही था कि जिस वंश में ब्राह्मण धर्म का पालन होगा वहाँ ब्राह्मण-गुणवाले जीवात्मा के जन्म लेने पर उसके गुण के विकास का पूरा अवसर मिलेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय-गुणवाले जीवात्मा को क्षत्रिय कुल में, वैश्य को वैश्य और शूद्र को शूद्र में। किन्तु आजकल जहाँ ब्राह्मण-कुल में ब्राह्मणोचित धर्म का पालन न होकर वैश्य-वृत्ति का पालन होता है वहाँ ब्राह्मण-गुणवाले जीवात्मा नहीं जन्म लेते किन्तु ब्राह्मण-गुण के अभिलाषी वैश्य गुणवाले। अतएव ऐसे जीवात्मा का शरीर तो ब्राह्मण कुल का है किन्तु भीतर जीवात्मा वैश्य है। यह एक प्रकार का वैषम्य आजकल देखा जाता है। इसी प्रकार यदि किसी शूद्र कुल के लोग उत्तम आचरण करनेवाले और त्यागी हैं तो उस कुल में शूद्र जीवात्मा के बदले ऊँचे वर्ण के जीवात्मा (जिनकी प्रवृत्ति उनके योग्य नहीं है) आकर जन्म लेते हैं जिनका बाह्य शरीर यद्यपि शूद्र वर्ण का है किन्तु जीवात्मा शूद्र से ऊँचा है। जिनके दिव्य-चक्षु खुले हुए हैं वे उनके तेज का वर्ण देखकर कह सकते हैं कि यह शूद्र शरीर का जीवात्मा ऊँचे वर्ण का है। पूर्वकाल में ऋषि लोग दिव्य-चक्षु से देखकर एक वर्ण को ऊपर के वर्ण में अन्तर्भुक्त करते थे और ऊपरवाले को नीचे के वर्ण में भी प्रविष्ट कराते थे।

श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ७ अ० ११ का वचन है—"यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।" ३५। हे राजन ! जिस पुरुष का जो वर्ण को प्रकट करनेवाला लक्षण कहा है, वह लक्षण अन्य वर्णों के पुरुषों में यदि देखने में आवे तो उस अन्य वर्ण के पुरुष को भी उस लक्षण के कारण उस वर्ण का ही समझो। गुण और चरित्र का सर्वत्र आदर है, अतएव चरित्रवान् गुणवान् परोपकारी किसी वंश में क्यों न हो वह अपने चरित्र के बल से अवश्य ऊपर आ जायगा और आदरणीय हो जायगा। शूद्र की खेती और वाणिज्य वृत्ति भी शास्त्र में कथित है। श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ७ अध्याय ११ का वचन है—"शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया। अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्।" २४। नम्रता, शौच, निष्कपट भाव से मालिक के कार्य का सम्पादन, वेदमन्त्रों से रहित यज्ञ, अन्याय से किसी की वस्तु को न लेना, सत्य और गो-ब्राह्मण की रक्षा ये शूद्रों के लक्षण हैं। श्रीमद्भागवत पुराण स्त्री और शूद्र के निमित्त विशेष कर बनाया गया है जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में शूद्र लोग भी ब्रह्मचर्यावस्था में रहकर शास्त्राध्ययन करते थे। बृहस्पति स्मृति का वचन है कि "पञ्चयज्ञविधानन्तु शूद्रेष्वपि विधीयते" अर्थात् शूद्र को भी पञ्चमहायज्ञ करना चाहिए। इसी प्रकार चार आश्रमों का निर्माण इस विश्व-विराट्-राष्ट्र की उन्नति और हित के लिये ही किया गया

न कि स्वार्थ-साधन के निमित्त अथवा बड़प्पन या लघुता के लिये, जैसा कि आजकल लोग समझते हैं।

इन विशेष धर्मों को अर्थात् अपने व्यवसाय और जीविका को, सत्य और न्याय से, विश्व-विराट् के निमित्त यज्ञ की भाँति करने से वह कर्म यज्ञ और योग है और ब्रह्म-प्राप्ति की उत्तम साधना है। केवल इसमें स्वार्थ और संकीर्णभाव का त्याग करना चाहिए और सिद्धि और असिद्धि में समान रहना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब कि स्वार्थ और ममत्व को त्यागकर कर्तव्य की भाँति यज्ञ-पुरुष परमात्मा के निमित्त किया जाय।

साधारण धर्म

इन विशेष धर्मों का भी आधार सार्वजनिक धर्म है, जो अन्य सब धर्मों की भित्ति है और जिसकी अपेक्षा अन्य धर्म उपधर्म हैं। कहा गया है कि धर्म संसार का आधार है किन्तु वह आधार-धर्म मुख्यकर साधारण धर्म ही है। यह धर्म सबके लिये सार्वभौमिक है अर्थात् सब देश के सब धर्मों और सब लोगों को मान्य है। इस धर्म में कोई सङ्कीर्णता नहीं, कोई मतभेद नहीं, कोई विवाद नहीं, कोई विद्वेष अथवा वैमनस्य नहीं और सब धर्मों की प्राप्ति के मुख्य लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति का यह धर्म साक्षात् साधन है जिसमें किसी को सन्देह अथवा मतभेद हो नहीं सकता है। संसार के

सब मुख्य धर्म इस साधारण धर्म को मुख्य मानते हैं ; अतएव इसके अनुसरण करने में किसी को न अपना धर्म बदलना होगा और न नवीन धर्म ग्रहण करना होगा। इस धर्म का तिरस्कार ही वर्तमान समय में सर्वत्र सब धर्मों और मन के ह्रास का कारण है। अन्य सब धर्म इसी धर्म की प्राप्ति के लिये साधना के समान हैं। किन्तु शोक है कि आजकल अधिकांश लोग इस धर्म के महत्त्व को भूल गये और इसको त्यागकर अन्य उपधर्मों को इसके स्थानापन्न मुख्य धर्म समझने लगे हैं। इस अज्ञान के कारण आजकल धर्म—जो सदा सुखद और शान्तिप्रद है वह—विद्वेष, वैमनस्य, विवाद, फूट, घृणा, हिंसा, विपत्ति आदि का कारण हो रहा है और धर्म के नाम से यथार्थ धर्म की हत्या की जा रही है जो अनर्थ का मूल है। इस साधारण धर्म के पालन से अखिल जन-समाज और व्यक्ति दोनों का ऐहिक और पारलौकिक कल्याण है और इसके भङ्ग करने से दोनों की हानि है। अज्ञान के कारण आजकल के लोग सर्वत्र इस धर्म की उपेक्षा करते हैं, इस धर्म को मुख्य धर्म न मानकर इसके साधन उपधर्म को मुख्य मानते हैं और समझते हैं कि इस धर्म के पालन से व्यवहार में हानि होगी और इसके विरुद्ध चलने से व्यवहार में लाभ होगा। किन्तु यह नितान्त भ्रम है। साधारण धर्म को मुख्य मान लेने से और इसके अभ्यास में यत्नवान् होने से संसार में शान्ति हो जायगी; सब प्रकार के विद्वेष, वैम-

नस्य, हिंसा, अन्याय, चोरी आदि पाप का लोप हो जायगा और सर्वत्र सुख-समृद्धि व्याप्त हो जायगी। तब संसार में मुख्य केवल एक धर्म हो जायगा और धार्मिक विद्वेष, वैमनस्य, मतमतान्तर का विरोध, फूट और विवाद आदि सब शान्त हो जायँगे। इस साधारण धर्म को मुख्य और सर्वोपरि मान लेने से (जिसके अभ्यास से बुद्धि निर्मल हो जायगी) विशेष और उपधर्म के भिन्न भिन्न रहने पर भी एकता ही बनी रहेगी, क्योंकि उनके तत्त्व का तब बोध हो जायगा। इस धर्म की भित्ति ईश्वर की व्यापकता और सृष्टि का एकात्म भाव है अर्थात् संसार मात्र ईश्वर के अंश से उत्पन्न होने के कारण आत्मदृष्टि से एक है, नाना नहीं; अथवा सब प्राणियों के एक ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण—सब आपस में—भ्रातृ-भाव के सूत्र में बँधे रहने के कारण—समान और एक हैं। अतएव दूसरे को दुःख देना अपने को दुःख देना है और दूसरे को सुख देना अपने को सुखी करना है। इस कारण अहिंसा इस साधारण धर्म में मुख्य धर्म है। मनु का वचन है—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ ६२॥
>
> अ० १०

मन, वचन और शरीर से किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना, सच बोलना, अन्याय से दूसरे का धन न

लेना, पवित्रता और इन्द्रियों का निग्रह, इस सार्वजनिक धर्म का मनु ने चारों वर्णों के लिये विधान किया है। मनु ने अध्याय ४ श्लोक २०४ में कहा है कि "यमान्सेवेत सततं" अर्थात् यम धर्म का सतत अभ्यास करना चाहिए और योगसूत्र में भी प्रथम साधन यह है। ये यम, जिनकी प्रथम साधना अहिंसा है, पाँच हैं—

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अप्रतिग्रह। इस यम के सार्वभौमिक और व्यापक धर्म होने के विषय में योगसूत्र यों लिखता है—

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्"।

यह यम धर्म सब जाति, सब देश और सब समय के लिये सार्वजनिक परम कर्तव्य है अर्थात् यह व्यापक धर्म सब देश के सब मनुष्यों के लिये मुख्य कर्तव्य है। इसमें कोई विभेद हो नहीं सकता। इस प्रकार ऋषियों ने संसार के सब मनुष्यों के लिये व्यापक सार्वभौमिक समान धर्म का विधान किया जिसकी पुष्टि सब मतमतान्तरों ने की है। किन्तु शोक है कि आजकल उन ऋषियों की सन्तान भी इस धर्म को विस्मरण कर, उपधर्म को ही मुख्य धर्म मान, इस सार्वभौम-धर्म पर पद पद में आघात कर रही है। इस यम का प्रथम पाद अहिंसा ही यथार्थ में धर्म की भित्ति है। स्मृति का वचन है—

योन हिंस्यादहं ह्यात्मा भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कदाचन ॥३४॥

—बृहस्पति

सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे ।
यत्कृतं तु पुनः पश्चाद् सर्वमात्मनि तद्भवेत् ॥२२॥

—दक्ष अ० ३

जो मनुष्य अपने को सबों में एकात्मभाव मान चारों प्रकार के प्राणियों को दुःख नहीं देता उसको शरीर त्यागने पर कोई भय नहीं होता। जो सुख-दुःख दूसरे के लिये किया जाता है वह सब अपने आत्मा में ही आकर प्राप्त होता है।

विना कर्तव्यपालन में विमुख हुए, अपनी क्षति भी करके, दूसरों का हित करना परम श्रेयस्कर और मुख्य धर्म है। लिखा है—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८८

चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ।

तत्रैव अ० ८६

उपकारः परो धर्मः परार्थं कर्मनैपुणम् ।
पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता ॥

तत्रैव

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

प्राणियों की उत्पत्ति पालन के लिये ही धर्म्म का प्रादुर्भाव हुआ। जिसमें अहिंसा का लक्षण हो वही धर्म है। चौथे परोपकार को कविगण धर्म का लक्षण कहते हैं। दूसरे के हित में निरत रहकर उपकार करना ही श्रेष्ठ धर्म है। पात्र को दान देना उत्तम दान है, और तृष्णा-राहित्य ही परम मोक्ष है। अठारह पुराणों में व्यास के केवल दो सार वचन हैं—परोपकार ही पुण्य और परपीड़ा ही पाप है।

अहिंसा

धर्म का आधार अहिंसा है। किसी को शरीर, वचन और सङ्कल्प द्वारा भी किसी प्रकार की हानि पहुँचाना, दुःख देना अथवा हृदय दुखाना, या घृणा करना, मानहानि करना आदि हिंसा है। किसी का जीवन नष्ट करना तो घृणित और घोर हिंसा स्पष्ट है किन्तु इसके सिवा ऊपर कहे व्यवहार भी हिंसा ही हैं। अपने दुःख-सुख के समान दूसरे

का भी दुःख-सुख जानना चाहिए और जो काम अपने को भला न जान पड़े वह दूसरे के साथ भी, केवल स्वार्थ-निमित्त, नहीं करना चाहिए। क्योंकि अन्य प्राणी भी अपने समान परमात्मा के अभिन्न अंश होने के कारण अपने आत्मा के ही प्रतिरूप हैं। अतएव उनकी हानि करनी अपनी हानि करनी है। लिखा है—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥
न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

महाभारत, शान्तिपर्व, मो० अ० ८६

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

तत्रैव अ० २५

दूसरे द्वारा अपने प्रति किये जाने से जो कर्म अच्छा न लगे वह, अपने लिये अप्रिय होने के कारण, दूसरे के लिये भी नहीं करना चाहिए। जो अपने को न रुचे वह दूसरे के प्रति नहीं करना चाहिए—यह सबके लिये धर्म है और इसके विरुद्ध कर्म अधर्म है। जो आप जीना चाहता है वह दूसरे का कैसे घात करता है? जैसी अपने लिये इच्छा करे वैसी दूसरे के लिये भी करनी चाहिए।

इस अहिंसा की परिधि केवल मनुष्य अथवा पशु तक नहीं रहनी चाहिए किन्तु वृक्ष लता गुल्मादि तक जानी चाहिए। अहिंसक को व्यर्थ एक पत्ते को भी नहीं तोड़ना चाहिए, क्योंकि उसमें भी जीवन है और वह भी आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण में कथा है कि ऋषि लोग जब एक दूसरे के पास जाते थे तो वे मृगादि पशु और आश्रम के लता-गुल्म-वृक्षादि का भी कुशल-प्रश्न पूछते थे, क्योंकि उनको भी वे सजीव प्राणी समझते थे और रक्षा करते थे। लिखा है—

न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन।
योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम् ॥१८॥

महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २६१

जो सबको अभय दान देता है (किसी की हानि नहीं करता) वह अभय पदवी को प्राप्त करता है और ऐसा धर्म न तो पूर्वकाल में कोई हुआ और न आगे होगा। क्योंकि—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥

हितोपदेश

प्राण जैसा अपने को प्रिय है वैसा दूसरे को भी प्रिय है, इसलिये साधु लोग अपने ऐसे दूसरे को भी जान के सबों पर दया करते हैं।

जो कुछ हानि हम लोगों की दूसरे के द्वारा होती है वह हम लोगों के आन्तरिक द्वेषात्मक क्लेशकारी स्वभाव का प्रतिफल है। हम लोग दूसरे के शत्रु बनते हैं, अतएव वे भी हम लोगों के शत्रु होते हैं। हम लोग आखेट के सुख के लिये, पेट भरने के लिये तथा अन्यान्य स्वार्थ और व्यर्थ कार्यों के लिये भी संसार के प्राणियों को कष्ट देते और उनका प्राण-नाश करते हैं, अतएव वे भी हम लोगों की हानि करने में बाध्य होते हैं और इसी कारण हम लोगों को सर्पभय, व्याघ्रभय, रोग-भय इत्यादि इत्यादि होते हैं। जो पुरुष किसी की किसी प्रकार की हानि करना नहीं चाहता और प्राणिमात्र में एक सर्वात्म-भाव मानकर उन पर प्रेम और दया का बर्ताव करता है, वह हिंस्र पशुयुक्त जङ्गल में अकेला क्यों न घूमे और व्याघ्रों की माँद में क्यों न चला जाय, सर्प पर उसका पग अनजान क्यों न पड़ जाय, किन्तु उसकी कोई हानि उनके द्वारा नहीं हो सकती। योगसूत्र में कथन है—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"। जो अहिंसा में परिनिष्ठ है उसके समीप आने पर दूसरे का हिंस्र स्वभाव जाता रहता है। ईश्वर प्रेम-स्वरूप है, अतएव जो सबों के साथ सर्वात्म-भाव मानकर प्रेम करता है, उसको ईश्वर के किसी अंश से भय नहीं हो सकता। यदि ऐसे पुरुष को कदापि कोई हानि किसी के द्वारा हो तो समझना चाहिए कि वह उसके पूर्वजन्म के दुष्ट कर्म का बहुत बड़ा ऋण था जो उसके अहिंसाभ्यास के कारण थोड़े में

सहज में सध गया। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड के अ० ७३ श्लोक १३ में पम्पासर के वर्णन में लिखा है कि वहाँ के पक्षियों का कोई वध नहीं करता था, अतएव वे मनुष्य को देखकर भयभीत नहीं होते थे। लिखा है—

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥

मनुस्मृति अध्याय ५

भूताभयप्रदानेन सर्वान्कामानवाप्नुयात्।
दीर्घमायुश्च लभते सुखी चैव सदा भवेत्॥ ५३॥

—संवर्तस्मृति

धनं फलति दानेन जीवितं जीवरक्षणात्।
रूपमारोग्यमैश्वर्यमहिंसाफलमश्नुते॥

—बृहस्पतिस्मृति

जो किसी की हिंसा नहीं करता अर्थात् किसी की कदापि कोई हानि नहीं करता और न दुःख देता है, वह जो ध्यान करता है, जो काम प्रारम्भ करता है और जो किसी गुप्त विषय के जानने के लिये मन को एकाग्र करता है वह सब में बिना विशेष यत्न के कृतकार्य हो जाता है। जो प्राणियों की कदापि कोई हानि नहीं करते, उनके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और वे दीर्घायु और सुखी होते हैं। दान से धन मिलता

है, जीव की रक्षा करने से जीवन की वृद्धि होती है और अहिंसा से सुन्दर रूप, आरोग्य और विभव मिलते हैं।

परोपकार

अहिंसा धर्म केवल निषेध अर्थात् हिंसा से प्रतिनिवृत्तिमात्र नहीं है किन्तु यह विधि अर्थात् क्रियात्मक भी है जिसके बिना यह अपूर्ण है। अहिंसा की प्राप्ति प्रेम-मैत्री, करुणा भाव की प्राप्ति से होती है। बड़ों को पूज्य मान उनके प्रति प्रेम-भाव रख उनकी सेवा करनी, तुल्य को मित्र समझ उनके सुख को अपना सुख और उनके दु:ख को अपना दु:ख जान उनके सुख की वृद्धि की कामना और दु:ख आने पर उसके मिटाने की यथासम्भव चेष्टा करनी अहिंसा की पूर्ति (विधि-भाग) है। अपने से छोटों के प्रति करुणा-दया करके उनको भी अपना आत्मा मान उनके दु:ख की निवृत्ति के लिये चेष्टा करनी भी अहिंसा का विधि-भाग है। इस प्रकार सेवा, और सेवा की भाँति परहित-कार्य, में निरत होना अहिंसा का मुख्य लक्षण है और बिना इसके इसकी पूर्ति अथवा प्राप्ति नहीं होती। लिखा है—

> यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा।
> तपस्त्यागश्च योगश्च स वै परममाप्नुयात् ॥२४॥
>
> महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १८५।

जो वचन और मन से भले प्रकार और सदा दूसरे की भलाई करने में लगा रहता है तथा जो तपस्या, त्याग और योगयुक्त रहता है वही परम पद की प्राप्ति करता है।

तुलाधार ने जाजलि ऋषि से यों कहा—

वेदाहं जाजले ! धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥
सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषाञ्च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ! ॥

महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २६१

हे जाजलि ! मैं सनातन धर्म के गुप्त भेद को जानता हूँ जो सब प्राणियों की भलाई करना और सब का मित्र बना रहना है, इसी को लोग पुराण करके जानते हैं।

हे जाजलि ! जो सदा सब का मित्र बना रहता है और मन, वचन और कर्म से जो सब का हित करने में तत्पर रहता है, वही धर्म को जानता है।

लिखा है—

चौ०—परहित लागि तजे जो देही।
संतत संत प्रसंसहिं तेही॥
परहित बस जिनके मन माहीं।
तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

क्षमासील जे पर-उपकारी ।
ते द्विज प्रिय मोहि जथा खरारी ॥
बड़े सनेह लघुन पर करहीं ।
गिरि निज सिरन सदा तृन धरहीं ॥
जलधि अगाध मौलि वह फेनू ।
संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण

मनसा कर्मणा वाचा चक्षुषा च समाचरेत् ।
श्रेयो लोकस्य चरतो न द्वेष्टि न च लिप्यते ॥ २४॥

वाल्मीकीय रा०, उत्तर का०, अ० ७१

आलोच्य सर्व्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः ।
पुण्यं परोपकाराय पापाय परपीडनम् ॥

मन, कर्म, वचन और नेत्र से लोगों का कल्याण करे । ऐसा आचरण करनेवाला न किसी से द्वेष करता और न कलुषित होता है ।

सब शास्त्रों को बार बार पढ़ने और विचारने से यही सिद्धान्त निकलता है कि परोपकार करना पुण्य है और दूसरे को दुःख देना पाप है । जैसा दूसरे की भलाई करना परम धर्म है वैसा ही प्राणिमात्र को किसी प्रकार की हानि पहुँचाना महान् अधर्म है ।

मनु के १० साधारण धर्म

मनु ने अध्याय ६ में दश प्रकार के साधारण धर्म का विधान किया है जो नीचे उद्धृत है और उसमें भी दूसरा धर्म "क्षमा" अहिंसा ही का उच्च आकार है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥९१॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥९२॥
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥९३॥

इन ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमी द्विजों को सदा यत्न-पूर्वक आगे कहे दशविध धर्मों का सेवन करना चाहिए। सन्तोष, क्षमा, मन-निग्रह, अन्याय से अथवा स्वेच्छा बिना किसी की वस्तु न लेना, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि-विचक्षणता (शास्त्रादि के तत्त्व का ज्ञान), विद्या (आत्मबोध), सत्य, क्रोध न करना, ये दश धर्म के लक्षण हैं। जो द्विजाति दशविध धर्मों को जानते हैं और जानकर उनका अनुष्ठान करते हैं वे परमगति को प्राप्त होते हैं।

धृति

मनु के दश साधारण धर्म में पहला धर्म धृति है जिसका अर्थ धैर्य्य और सन्तोष है। कष्ट की दशा में पड़ने पर भी उससे क्षुभित न होना और विना चिन्तित और शोकित हुए उसको सह लेना धैर्य्य है और ऐसी दशा में भी प्रसन्न ही रहना सन्तोष है। सुख दुःख दोनों नाशवान् हैं और उनका आना कर्मानुसार होने के कारण अवश्यम्भावी है। उनका आना किसी प्रकार साधारण लोगों से रुक नहीं सकता है और न उनके भोग के नियत समय के बीतने के पूर्व वे टल सकते हैं, अतएव धैर्य्य का अवलम्बन आवश्यक है। दुष्ट प्रारब्ध कर्म के फल दुःख रूप में कर्त्ता के पास आते हैं, जिनको धैर्य्य से भोगने से वह छुटकारा पा जाता है, अतएव दुःख की अवस्था में पड़ने पर धैर्य्य रखना आवश्यक है। संसार के विषयों की जितनी प्राप्ति होती है उतनी ही विशेष उनके पाने की इच्छा बढ़ती है और जब तक इच्छारूपी तृष्णा बनी रहती है तब तक शान्ति नहीं मिलती। लाभ अलाभ प्रारब्ध-कर्मानुसार जान यथालाभ में सन्तुष्ट रह सन्तोष का धारण अवश्य करना चाहिए। सन्तोष के अभाव के कारण ही किसी अप्राप्त वस्तु के लिये लोभ की उत्पत्ति होती है जिसके कारण असत्य, स्तेय, अन्याय आदि अधर्म किये जाते हैं। अतएव

असन्तोष पाप का और सन्तोष धर्म का मूल है। सन्तोष नहीं रहने से चित्त चञ्चल और उद्विग्न रहता है और चञ्चल और उद्विग्न मन अशान्ति का कारण है और ईश्वरसुख हो नहीं सकता। तृष्णा को त्यागकर सन्तोष का अवलम्बन करने से आनन्द की प्राप्ति होती है। और—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्चधावताम्॥

सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त और शान्त चित्तवाले पुरुषों को जो सुख होता है वह सुख धन के लोभियों को, जो इधर उधर दौड़ा करते हैं, कैसे प्राप्त हो सकता है? श्री पतञ्जलि भगवान् का वाक्य है—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥

पातञ्जल योगसूत्र

सन्तोष से अत्युत्तम सुख की प्राप्ति होती है। जैसे—

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्॥

साँप वायु पी के जीता है किन्तु दुर्बल नहीं होता; वन का हाथी सूखी घास खाने से बलिष्ठ बना रहता है; मुनिगण

कन्द और फल को खाके समय बिताते हैं, अतएव सन्तोष ही पुरुष का उत्तम धन है। क्योंकि —

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १७४

संसार में कामना पूर्ण होने से जो सुख होता है और जो स्वर्गादि लोकों का उत्तम सुख है वे सुख तृष्णा के नाश होने से जो सुख होता है उसके सोलहवें अंश के तुल्य भी नहीं हैं।

दुःख आने पर जीवात्मा को यह चेतावनी मिलती है कि यह (दुःख) तुम्हारे पूर्व के दुष्कर्म का फल है जिसको भोग-कर भविष्यत् के लिये दुष्कर्म के न करने का दृढ़ निश्चय करो। यह ज्ञान अन्तरात्मा को हो जाता है और संस्कार की भाँति सदा उसमें वर्तमान रहता है और इसके कारण उस दुष्कर्म से, जिसका वह फल था, निवृत्ति हो जाती है। अतएव दुःख हित के लिये आता और मित्र है। ऊपर के सिद्धान्त से दुःख, प्रारब्ध-कर्म के फल होने के कारण, बिना भोग के चीण हो नहीं सकते और यह भी अटल नियम है कि प्रारब्ध-कर्मानुसार जो कुछ अपनी पूर्व की कमाई का फल यहाँ मिलना है वह अवश्य उपयुक्त पुरुषार्थ से मिलेगा; इस पर विचार करने से और ऐसा जान कर कि सांसारिक पदार्थ नाशवान् हैं और यथार्थ सुख देनेवाले नहीं हैं यही परिणाम

निकलता है कि दुःख, शोक, हानि आदि के आने पर व्यग्र नहीं होना चाहिए किन्तु धैर्य और सन्तोष का अवलम्बन करना चाहिए। कष्ट के आने पर अज्ञानी और अधीर धैर्य का अवलम्बन न कर कष्ट से शीघ्र मुक्त होने के लिये अनेक प्रकार के गर्हित कर्म करते हैं जिससे दुष्टफल टलता नहीं किन्तु उस कर्म का दुष्टफल उनको भविष्य में फिर भोगना पड़ता है जिसके कारण उनके दुःख की कमी न होकर वृद्धि होती है। जो कष्ट आने पर भी धैर्य का अवलम्बन कर कष्ट को सह लेता है और कोई अनुचित कार्य नहीं करता है जिसके लिये कामासक्त चित्त उसको उत्तेजित करता है, वही यथार्थ सुख का लाभ वर्तमान और भविष्यत् में पाता है। लिखा है—

"सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः।
राजानमुपतिष्ठन्ति किङ्करत्वमुपागताः" ॥

सन्तोष के बल से पुष्ट-मनवाले की सेवा बड़े बड़े ऐश्वर्य ऐसे करते हैं जैसे कि राजा की सेवा नौकर करता है। जो ज्ञान के बल से धैर्य से कष्ट को सहता है उसके वर्तमान कष्ट का भी ह्रास हो जाता है, क्योंकि वह परीक्षा में सफल हुआ जिसके लिये यथार्थ में क्लेश आते हैं। कष्ट में पड़ने से, धैर्य और ज्ञान के कारण, सज्जनों के सद्गुण प्रकट होकर उनके महत्त्व को प्रकाशित करते हैं और उनकी आन्तरिक शक्ति बढ़ती है, जैसा कि आग में पड़ने से सोना विशेष उज्ज्वल

होता है। श्रीहरिश्चन्द्र, श्रीभगवान् रामचन्द्रजी, जगज्जननी श्रीमती सीताजी और पाण्डव आदि ने कष्ट के आने पर जो बहुत बड़ा परमाश्चर्य-जनक धैर्य का उदाहरण संसार को दिया उसका यही तात्पर्य था कि हम लोग भी उनका अनु-सरण कर लाभ उठावें। यदि ये सब कष्ट आने पर धर्म का त्याग करते तो कष्ट शीघ्र दूर हो जा सकता था, किन्तु ऐसा नहीं किया गया। यही धैर्य है। वन-वास के कष्ट के समय जब राजा युधिष्ठिर से यह कहा गया कि उनकी अनुमति से यदु-वंश के योद्धागण कौरवों को पराजित कर उनको राज्यसिंहासन पर स्थित कर देंगे तो युधिष्ठिर ने कहा कि मैं वनवास-अज्ञातवास के कष्ट से मुक्त होने और राज्य पाने के निमित्त भी अपने वाक्य को असत्य नहीं कर सकता हूँ। ऋषि वशिष्ठ के जब सौ पुत्रों का विश्वामित्र ने नाश कर दिया उस दिन की रात्रि में वशिष्ठजी बड़ी सावधानी से एक लिखित वाक्य को पढ़ रहे थे और विचार कर रहे थे। उस समय उनकी स्त्री ने कहा कि अब हम लोगों को इस समय अपने शोक के ताप को किंचित् शान्त करने के लिये बाहर चन्द्रमा की ज्योति में जाना चाहिए। यह सुनकर वशिष्ठजी ने कहा कि "यह वाक्य, जिस पर वे विचार कर रहे हैं, चन्द्रमा से भी अधिक शीतल है और यह उसी विश्वामित्र का है जिसके द्वारा हम लोगों के पूर्व के प्रारब्ध कर्म ने सौ पुत्रों का नाश करवाया है"। यह धैर्य और

ज्ञान का परमोज्ज्वल उदाहरण है। यथार्थ में यह उक्ति ठीक है कि—

चलन्ति गिरयः कालं युगान्तपवनाहताः।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः॥

कभी युग के अन्त में प्रबल पवन के वेग से पहाड़ भी चलायमान होते हैं किन्तु धीरों का मन किसी अवस्थामें चलायमान नहीं होता। यदि कष्ट को ज्ञान और धैर्य के साथ निरुद्विग्न मन से सहा जाय तो वह एक प्रकार की तपस्या है जिससे अन्तर के दोषों का नाश होता है और नवीन प्रबल शक्ति उत्पन्न होती है। कष्ट के आने पर, धर्म और न्याय के पथ से विचलित न होकर, धैर्य से प्रसन्नतापूर्वक कष्ट के सहन रूपी तप से भोक्ता के सिवा जन-समुदाय को भी उदाहरण और अदृश्य परिणाम द्वारा लाभ होता है। सत्य के निमित्त श्री-भगवान् रामचन्द्र और श्रीहरिश्चन्द्र के सहर्ष कष्ट उठाने पर संसार में सत्य का विशेष प्रचार हुआ। श्रीसीताजी के वन-वास के कष्ट सहने से पातिव्रत-धर्म का विशेष विकास हुआ और उसका प्रभाव अब तक वर्तमान है। श्रीसीताजी के श्री वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर त्यागे जाने पर उन्होंने श्रीलक्ष्मण-जी से जो अपना संवाद अपने पति के लिये कहा वह धैर्य और पातिव्रत-धर्म का अतुलनीय परमोज्ज्वल उदाहरण है। श्रीसतीजी ने कहा—

"वक्तव्यश्चैव नृपतिः धर्मेण सुसमाहितः ।
यथा भ्रातृषु वर्त्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा ॥ १५ ॥
परमो ह्येष धर्म्मस्ते तस्मात्कीर्त्तिरनुत्तमा ।
अहन्तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभः ॥ १६ ॥
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्य्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः"॥

वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड, अ० ५८

हे लक्ष्मण! नितान्त धर्मशील राजा से कहना कि जैसे वे अपने भाइयों के साथ व्यवहार करते हैं वैसा ही व्यवहार पुरवासियों के प्रति रक्खें, क्योंकि यह राजा का परम धर्म है और इससे उत्तम कीर्त्ति मिलती है। हे राजन्! अपने पति-देव और पुरवासियों की निन्दा बचाने के लिये मैं जैसी चिन्तित रहती हूँ वैसी अपने शरीर के लिये नहीं, क्योंकि स्त्री का पति ही देवता, गुरु और हितैषी है। श्रीसीताजी को सन्देह हो गया कि मेरे पति-देव ने जो पुरवासी के मिथ्या कलङ्क के कारण मेरा त्याग किया है उसके कारण वे कहीं पुरवासी से विरक्त अथवा अप्रसन्न न हो जायँ जिससे उनके धर्म में हानि होगी। इस कारण अपने कष्ट के प्रधान कारण निन्दक-पुरवासी के साथ भ्रातृ-समान हित करने का सन्देशा भेजा। हम लोग विचारें कि यह कैसा धैर्य है! इस कलि में भी श्रीभगवान् बुद्ध के राज्य-त्याग कर भिक्षु-वृत्ति के कष्ट को सहर्ष ग्रहण करने से

संसार को बहुत बड़ा लाभ और उपकार हुआ। इसी प्रकार महात्मा ईसु क्राइस्ट के शूली पर चढ़ने पर भी अपने शत्रु के अपराध को क्षमा के लिये ईश्वर से प्रार्थना रूपी उनका धैर्य और क्षमा उनके मत के विशेष प्रचार का मुख्य कारण हुआ। महाप्रभु चैतन्य के संन्यास-वृत्ति के कष्ट को स्वीकार करने से भी हरिनाम का विशेष प्रचार होकर देश का बड़ा उपकार हुआ। त्याग, सहिष्णुता और धैर्य का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। क्योंकि बिना त्याग और सहिष्णुता के धैर्य का लाभ नहीं हो सकता।

ऊपर के महान् व्यक्तियों के कष्ट का हजारहवाँ भाग कष्ट भी हम लोगों को नहीं आता है, तथापि हम लोग अधीर हो जाते हैं। अतएव हम लोगों को चाहिए कि कष्ट आने पर पूर्व के समय महानुभावों के कष्ट के ऊपर विचार कर समझें कि कष्ट हित के लिये आता है और इसके बाद सुख शान्ति अवश्य मिलती है और इन लोगों ने हम लोगों को धैर्य देने के लिये कष्ट सहकर इतना बड़ा उदाहरण संसार को दिया। लिखा है कि—

"चक्रवत्परिभ्राम्यन्ति दुःखानि च सुखानि च"।

अर्थात् गाड़ी के पहिये की भाँति दुःखसुख एक के बाद दूसरा अवश्य आता है। ऊपर कथित सिद्धान्त और उदाहरण आदि पर विचार करने से धैर्य का लाभ होगा। यह भी विचारना चाहिए कि इस संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति

नहीं है जिसको किसी प्रकार का कष्ट अथवा अभाव कभी नहीं हुआ। अर्थात् सुखदुःख सबके लिये साधारण घटना है। धैर्य से सांसारिक लाभ भी है। जो कष्ट आने पर धैर्य नहीं रखते, उनके कष्ट की तीव्रता बढ़ जाती है, उनकी बुद्धि ठीक नहीं रहती और उचित कार्य करने की क्षमता का ह्रास हो जाता है। अतएव वे कष्टनिवारण अथवा ह्रास करने के कार्य में सफल नहीं होते किन्तु धैर्यवान् सफलता लाभ करता है। धीर को ज्ञान के कारण कष्ट आने पर अभ्यन्तर में कष्ट ही नहीं होता और वह अन्तर से प्रसन्न ही रहता है।

सुख और दुःख दोनों से क्षुभित न हो दुःख और कठिनाई के आने पर उसको दुःख और कठिनाई ही न समझे और तनिक भी विचलित न हो। सुख और दुःख तो मन का भाव है। कोई अभाव के न रहने पर भी भावना के कारण मनुष्य दुःखी रहता है और उसी प्रकार एक परम दरिद्र भी ज्ञान के बल से चक्रवर्ती राजा से अधिक सुख अनुभव कर सकता है। धीर यदि कठिनाई के आने पर आत्मा की दृष्टि से उसे तुच्छ समझकर धैर्य्य से उसके टालने के लिये दृढ़ सङ्कल्प करेगा, तो इसके द्वारा उसको बहुत कुछ टाल भी सकता है। यह धैर्य्य-मार्ग कायरता नहीं है किन्तु वीरता है और सब कठिनाइयों को दूर करनेवाला है। इसके अवलम्ब से मनुष्य बड़ी उन्नति कर सकता है;

क्योंकि दुःख आने पर जो क्षुभित होते हैं वे सामर्थ्य-हीन हो जाते हैं और दुःख दूर करने के ठीक उपाय का निश्चय और साधन नहीं कर सकते हैं। धैर्य्य और संतोष का यह अभिप्राय नहीं है कि कठिनाई के मिटाने के उपाय का अवलम्ब नहीं किया जाय। संतोष अथवा धैर्य्य रखने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि दुःख, अभाव आदि कठिनाई के आने पर अपने को निःसहाय अथवा लघु समझकर उसको सह ले और प्रतीकार के लिये कुछ न करे। इसका यथार्थ तत्त्व यह है कि जीवात्मा तो अपने यथार्थ स्वरूप से ईश्वर का अंश, सत, चित, आनन्द, अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, अचल, सर्वगत, सनातन (गीता अ० २—२३ से २५) है। रामायण में भी लिखा है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सदा सुखराशी॥

अतएव जीवात्मा को तो दुःख अथवा अभाव कदापि व्याप्त कर नहीं सकता है किन्तु वह अज्ञान के कारण अपने यथार्थ रूप और सामर्थ्य को भूलकर दुःख, दारिद्र्य आदि क्लेश से क्षुभित होता है। अतएव संतोष का यथार्थ तात्पर्य्य यह है कि धीर अपने को आत्मा मानकर और शरीर आदि जड़ उपाधि से आत्मा-चेतन-द्रष्टा में भेद मानकर नित्य सुखी रहे और अपने को सांसारिक सुख-दुःख से परे समझे। शरीर अथवा व्यवहार सम्बन्धी घटना में निरासक्त और समत्व-भाव रखने से बुद्धि ठीक रहती और कार्य्य करने की शक्ति और साहस की

वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार धीर और संतुष्ट व्यक्ति को सांसारिक व्यवहार में भी सफलता प्राप्त करने की सम्भावना अधिक हो जाती है जो अधीर और असंतुष्ट के लिये सम्भव नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि विषय की वासना की प्राप्ति से कदापि किसी को तुष्टि नहीं होगी, जैसे कि अग्नि में घी के देने से अग्नि की ज्वाला अधिक ही बढ़ती है, कदापि शान्त नहीं होती। यह अटल नियम है कि मनोरथ का कभी अन्त नहीं है। इस संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, वह कई करोड़ों का अधिपति क्यों न हो, जिसको अपनी वर्तमान अवस्था से संतोष हो। सब को और अधिक की चाह रहती है, क्योंकि बाहर-पदार्थ असार और असत् हैं, उनमें आनन्द कहाँ? ऐसी अवस्था में यदि केवल सांसारिक विषय-वासना की पूर्ति ही एकमात्र जीवन का लक्ष्य रक्खा जाय तो सम्पूर्ण जीवन ही दुःखमय हो जायगा, क्योंकि विषय का कितना ही अधिक लाभ और प्राप्ति क्यों न हो, अधिक की चाह अवश्य बनी रहती है। धैर्य्य का तात्पर्य यह है कि कष्ट के आने पर क्षुभित न होकर और अभ्यन्तर से अविचलित और शान्त रहकर प्रतीकार के लिये आवश्यक यत्न उत्तम रीति से अवश्य करे जिसके कारण सफलता की सम्भावना अधिक हो जायगी।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।

अर्थात् अपने को अजर अमर समझ विद्या और धन के उपार्जन में प्रवृत्त रहे। यह उक्ति धैर्य्य-सूचक ही है।

आजकल कई लोग ऐसा कहते हैं कि संतोष के धारण करने से उन्नति में बाधा होगी और लोग अकर्मण्य और आलसी हो जायँगे। यह धारणा ठीक नहीं है। संतोष और धैर्य्य के धारण का उद्देश्य यह नहीं है कि कर्तव्य-पालन न किया जाय अथवा किसी कार्य के साधन के लिये अथवा बाधा के मिटाने के लिये आवश्यक उद्योग और परिश्रम न किये जायँ। धैर्य्य और संतोष की धारणा से बहुत बड़ा लाभ यह है कि इनके कारण चित्त स्वस्थ और शान्त रहता है जिसका परिणाम यह होता है कि कार्य्य करने की क्षमता की वृद्धि होती है और सफलता की सम्भावना भी बढ़ जाती है। जो सदा तृष्णा में निमग्न रहेगा और सदा अधिक से अधिक की प्राप्ति के लिये लालायित, व्यग्र और व्याकुल रहेगा (जिसके कारण लोभ-ग्रस्त भी हो जायगा) वह सदा चिन्ता और अशान्ति से दग्ध होता रहेगा और उसका जीवन आदि से अन्त तक सुख के बदले दुःखमय हो जायगा। यदि कहा जाय कि ऐसी अवस्था उत्तरोत्तर उन्नति के लिये आवश्यक है तो इसमें विचारणीय यह है कि यह दुर्लभ मनुष्यजीवन क्या केवल भोजन, पान, वस्त्र, सवारी, गृह, काम-वासना आदि के भोग के लिये ही है? यदि ऐसा ही है तो पशु और मनुष्य में क्या भेद हुआ? क्योंकि ये सब पशु को अनायास बिना विशेष परिश्रम किये लब्ध हैं। और यदि मनुष्य-जीवन का मुख्य ध्येय केवल सांसारिक-विषय-प्राप्ति ही माना जाय, तो जीवन व्यर्थ

ही है, क्योंकि मरने के बाद और पहले भी उसका इन विषयों से वियोग अवश्य होगा। इस प्रकार जन्म भर घोर परिश्रम, चिन्ता और कष्ट करके जो प्राप्ति की गई उसमें से मरने के बाद जीवात्मा के साथ एक भी न गया और सम्पूर्ण जीवन का परिश्रम अन्तिम परिणाम की दृष्टि से बेकार हुआ। सत्य तो यह है कि मनुष्य-जीवन का मुख्य लक्ष्य अज्ञान और कामात्मक वासना को दूरकर ज्ञान-भक्ति की प्राप्ति करना है जिससे संसार और परमार्थ दोनों सुधरते हैं और उसका परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक वर्तमान रहता है और उसके द्वारा इस लोक और परलोक में भी यथार्थ आनन्द की प्राप्ति होती है। धैर्य और सन्तोष का धारण करना मानो गीता का निष्काम कर्म, कर्त्तव्य अर्थात् धर्म समझकर, करना है। उस कर्त्तव्य-पालन धर्म को उत्तम प्रकार से करना चाहिए और उसके निमित्त आवश्यक वस्तु, गुण आदि की प्राप्ति के लिये अवश्य यत्न करना चाहिए जिसका न करना अधर्म है किन्तु फल की सिद्धि और असिद्धि में समान रहना चाहिए (२-४७ और ४८ और ६-१)। इस वृत्ति के धारण करने से धर्म की भी प्राप्ति होती है और सांसारिक व्यवहार के कार्य की सिद्धि में भी बड़ी सुगमता होती है और उसकी सम्भावना बढ़ जाती है, जैसा कि कहा जा चुका है। आजकल थोड़े से ऐसे लोग भी हैं जो सांसारिक लाभ के लिये आत्म-शक्ति का प्रयोग करते हैं किन्तु यह उसका दुरुपयोग है, क्योंकि वे तब

पारमार्थिक लाभ से वंचित हो जाते हैं। जिसके द्वारा स्थायी पारलौकिक उन्नति हो सकती है ऐसी आत्म-शक्ति का विषय की प्राप्ति में प्रयोग करना, जो अन्य प्रकार से भी लाभ हो सकता है, विवेक-हीनता और अल्पज्ञता है। यह ऐसा ही है जैसा कि काँच की प्राप्ति के लिये मणि को दे डालना। धैर्य और सन्तोष रखकर, कर्म की सिद्धि-असिद्धि से क्षुभित न होकर, कर्त्तव्य की दृष्टि से कर्म के करने से कालान्तर में सफलता अवश्य होगी—यही सफलता की कुञ्जी है।

क्षमा

दूसरा धर्म क्षमा है जो अहिंसा से भी अधिक व्यापक और उच्च है। अहिंसा पर-पीड़ा देने से निवृत्ति है किन्तु दूसरे के द्वारा अनुचित रूप से पीड़ित अथवा क्षतिग्रस्त होने पर भी, और उसके बदले में हानि करने की शक्ति और अवसर रहने पर भी, हिंसा (हानि) न करना "क्षमा" है। यथार्थ क्षमा केवल बाह्य हिंसा से निवृत्ति मात्र नहीं है किन्तु अपराध किये जाने पर अभ्यन्तर में न क्रोध करना और न क्षुभित होना है; साथ ही धैर्य्य और प्रसन्नता से अपराध-कर्त्ता के प्रति अभ्यन्तर से बिना द्वेष-भाव रक्खे अपराध को सहन करना है। शरीर के कर्म की अपेक्षा मानसिक भावना का प्रभाव कम नहीं है किन्तु अवस्था विशेष में अधिक है। यदि किसी

के प्रति बाहर से कोई अपकार का कर्म न किया गया किन्तु चित्त में द्वेष-भाव उत्पन्न हुआ तो हिंसा हो गई और इससे दोनों की अवश्य हानि होती है। किसी के द्वारा हानि होने पर यह समझना चाहिए कि प्रथम दोष-कर्त्ता आत्म-दृष्टि से उससे भिन्न नहीं है; दूसरे, उसको हानि उसके पूर्व के प्रारब्ध कर्म के अनुसार हुई जिसके कारण पूर्व के दोष का परिमार्जन होकर वह उऋण हो गया। इस कारण उसकी प्रतिनिवृत्ति क्षमा न होकर ऋण-शोधन हुआ। तीसरे, उसमें भी वर्तमान समय में हिंसा की भावना अभ्यन्तर में अवश्य है जिसके कारण यह आघात उसको हुआ, नहीं तो कदापि नहीं होता। अतएव अपने दोष का प्रकाश हो जाने से उसका उपकार हुआ जिसके नष्ट करने की चेष्टा उसे करनी चाहिए। चौथे, इस अपराध को जान बूझकर सहर्ष क्षमा करने से उसको क्षमा-गुण की प्राप्ति होगी जो एक परम लाभ होगा। पाँचवें, उसको मालूम हो गया कि अपराध-कर्त्ता का अपराध अज्ञान और उसका परिणाम द्वेष-भाव के कारण हुआ जो सर्वत्र एकात्म-भाव की दृष्टि से उसका स्वयं अज्ञान है, इस कारण उसका अब यह कर्त्तव्य है कि क्षमा द्वारा अथवा अन्य प्रकार से कर्त्ता के अज्ञान और दुष्ट स्वभाव को मिटाने का यत्न किया जाय। छठे, यह कि यदि वह भी हानि के बदले कर्त्ता की हानि करेगा, तो अपराध-कर्त्ता के द्वेषकारी स्वभाव की वृद्धि हो जायगी जिसके कारण वह फिर भी उसकी हानि करेगा।

इस प्रकार यह आघात-प्रतिघात दोनों में परस्पर उत्तरोत्तर अनेक काल तक चलेगा जिससे दोनों की बड़ी हानि होगी। किन्तु एक क्षमा करने से इन सब दोषों और आपत्तियों की निवृत्ति हो जायगी। क्षमा और अहिंसा की पूर्ण पूर्ति तभी होती है जब कि अपराध-कर्त्ता का अपकार करने के बदले उसके दुष्ट स्वभाव के मिटाने का यत्न किया जाय। इसमें क्षमाशील को क्षमा के कारण सफलता अवश्य कभी न कभी मिलेगी। तब वह अपराधी क्षमाशील का मित्र ही नहीं किन्तु उपकारी तक बन जा सकता है। महाभारत वनपर्व अ० २८ का वाक्य है—

> मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
> नासाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु॥

कोमलता अर्थात् क्षमा से द्वेष का नाश होता है और द्वेष के अतिरिक्त का भी सुधार होता है, क्षमा से कुछ भी असाध्य नहीं है, अतएव क्षमा सबसे प्रभावशाली है।

ज्ञान और धैर्य्य के बल से ही इस क्षमा का उचित अभ्यास सम्भव है, अन्यथा नहीं। स्मरण रहे कि इसमें मानसिक भावना मुख्य है अर्थात् मन में कर्त्ता की अज्ञता पर शोक के बदले उसके प्रति द्वेष का भाव तनिक नहीं आना चाहिए किन्तु उसके अज्ञान और द्वेष-भाव के मिटाने की शुभ-कामना और प्रार्थना चित्त में आनी चाहिए। हिंसा-द्वेष के एक ओर से किये जाने पर यदि दूसरी ओर से भी वैसी ही भावना की

जाय तो दोनों भावनाएँ, समान होने के कारण, एकत्र होकर प्रवला हो जायँगी और दोनों के द्वेषभाव को अधिक बढ़ाकर दोनों की बड़ी हानि करेंगी और अन्य संसर्गी दुष्ट स्वभाववालों का भी स्वभाव बढ़ाकर सबों की हानि करेंगी।

जब परीक्षा के उद्देश्य से महर्षि भृगु ने श्रीविष्णु भगवान् की छाती में लात मारी, तब श्रीभगवान् ने जो उनको कहा वह संसार के लिये उपदेश है और उस भावना को सबों को धारण करना चाहिए, क्योंकि यह विश्व श्रीभगवान् का ही रूप और अंश होने के कारण उनके गुण स्वभाव का अनुकरण करना परमावश्यक है। पग का आघात लगने पर श्रीभगवान् ने कहा—

> अाह ते स्वागतं ब्रह्मन्! निषीदात्रासने क्षणम्।
> अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो॥९॥
> अतीव कोमलौ तात! चरणौ ते महामुने!
> वज्रकर्कशमद्वक्षः स्पर्शेन परिपीडितौ॥१०॥
> इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना।
> पुनीहि सह लोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
> पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा॥११॥
> अद्याहं भगवन् लक्ष्म्या आसमेकांतभाजनम्।
> वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः॥१२॥

*भागवत, स्क० १०, अ० ८९

हे ब्राह्मण ! तुम आये यह बड़ी उत्तम बात हुई। क्षण भर इस पलँग पर बैठो। हे प्रभो ! आये हुए तुमको न जाननेवाले हमारे अपराधों को तुम्हें क्षमा करना चाहिए। हे तात मुने ! तुम्हारे चरण बहुत ही कोमल हैं और मेरा वक्षःस्थल कठोर है जिसके स्पर्श से तुम्हारे चरणों को पीड़ा हुई। ऐसा कहकर अपने हाथ से उस ब्राह्मण के चरण को दबाते हुए विष्णु भगवान् कहने लगे कि हे ब्राह्मण! तुम तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले अपने चरणोदक से लोकों सहित मुझे और मुझमें रहनेवाले सकल लोकों को पवित्र करो। हे भगवन् ! आज मैं लक्ष्मी के निरन्तर रहने का स्थान हुआ हूँ, क्योंकि तुम्हारे चरण के स्पर्श से निष्पाप हुए मेरे वक्षःस्थल पर लक्ष्मी स्थिर रहेगी। ऊपर कथित श्रीभगवान् की उक्ति का सबको अवश्य अच्छी तरह मनन करना चाहिए और इसके अतुलनीय क्षमा-भाव को स्वर्णाक्षर में हृदय में धारण करना चाहिए, क्योंकि यहाँ केवल क्षमा ही नहीं है किन्तु श्रीभगवान् के सहस्रनाम में जो दो नाम "अमानी" और "मानद" (स्वयं मानरहित किन्तु दूसरों को मान देनेवाले) हैं उनकी पराकाष्ठा है। जहाँ हम लोग क्षुद्रातिक्षुद्र नाममात्र के अपमान के कारण क्रोध से अधीर होकर गालियाँ बकते और आघात करने पर प्रस्तुत हो जाते हैं वहाँ त्रिलोकनायक स्वयं श्रीभगवान् का अकारण ताड़ना पर अपनी दीनता और अधीनता—केवल वाक्य से नहीं किन्तु ऋषि के चरण को दबाके—दिखलाना

उनके ईश्वरत्व के योग्य है। ऐसा करके उन्होंने हम लोगों को उपदेश दिया कि अभिमान, अहङ्कार, दम्भ, मान, मद आदि यथार्थ में विष हैं जिनका त्याग कर अमानी, दम्भशून्य, कोमल, अधीन, सरल, अपनी दृष्टि में लघु, सहिष्णु आदि बनना चाहिए और ये ईश्वर-प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं। वाल्मीकीय रामायण, उत्तर काण्ड अध्याय ६२ में कथा है कि एक वार भृगु ऋषि ने श्रीविष्णु भगवान् को शाप दिया और शाप देकर उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे शाप को स्वीकार करें जिसके नहीं स्वीकार होने से मुझे बड़ा दोष होगा। श्रीभगवान् ने भृगु को दोष से बचाने के लिये उस शाप को स्वीकार किया और उसी कारण मर्त्यलोक में जन्म लेने के कष्ट को अपने ऊपर लिया।

रावण के वध के बाद जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को स्वर्गागत राजा दशरथ के दर्शन हुए तो श्रीभगवान् ने उनको वन के कष्ट देनेवाली कैकेयी के उपकार के लिये ऐसा वर माँगा—

सपुत्रां त्वां त्यजामीति·यदुक्ता कैकयी त्वया।
स शापः कैकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥२५॥

वाल्मीकि रा०, लङ्का अ० १२१

आपने जो कैकेयी को कहा कि "मैंने तुमको तुम्हारे पुत्रसहित त्याग किया" यह भीषण शाप सपुत्रा कैकेयी को न लगे। दण्डकारण्य के ऋषिगण केवल शाप द्वारा वहाँ के राक्षसों का

नाश कर सकते थे किन्तु राक्षसों से भक्षित होते रहने पर भी उन लोगों ने, अपने प्राण बचाने के लिये भी, शाप का प्रयोग न किया किन्तु क्षमा की, क्योंकि उनका क्षमा ही धर्म था। उन्होंने उन राक्षसों के हित के लिये श्रीभगवान् रामचन्द्र से, जिनको दण्ड देने का अधिकार था, दण्ड देने के लिये प्रार्थना की। श्रीगुरु-ग्रन्थ साहब का वचन है—

जो तै मारें मुक्कियाँ फिर न मारे घुम।
घर तिनाँके जायके पैर तिनाके चूम॥

सब भूतों में ईश्वर के वास को मानकर उनके साथ आदर, मैत्री और प्रेम भाव रखने से और अपने को भी आत्म-दृष्टि से अन्य प्राणियों से अभिन्न मान अहङ्कार, मान, मद, क्रोध आदि का नाश कर परोपकार में रत होने से क्षमा की प्राप्ति होगी। इस क्षमा के अभ्यास से सांसारिक व्यवहार में हानि के बदले अवश्य बहुत बड़ा लाभ होगा। क्षमाशील से उसके क्षमा-गुण के कारण न कोई शत्रुता करेगा और न द्वेष रखेगा, वरन् अधिकांश लोग और उसके शत्रु भी उसके हित और मित्र बन जायँगे और वह शान्ति लाभ करेगा। व्यवहार में वह अवश्य कृतकार्य होगा किन्तु कुछ कालान्तर के बाद इसका उत्तम परिणाम देखने में आवेगा, शीघ्र नहीं। मनु भगवान् का वचन है—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४७॥

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत् ॥

मनुस्मृति, अध्याय ६

दूसरे की कही हुई कठोर बातों को सहन करना चाहिए, किसी का अपमान न करना चाहिए, इस नश्वर देह का आश्रय लेकर किसी से वैर न रखना चाहिए ॥ ४७ ॥ क्रोध करनेवाले के ऊपर क्रोध न करना चाहिए, दूसरा कोई दुर्वाच्य कहे तो उसको आशीर्वाद देना चाहिए, और चक्षु आदि पाँच बुद्धीन्द्रिय और मन तथा बुद्धि इन सातों करके निकली वाणी से असत्य नहीं बोलना चाहिए। और भी कहा है—**यो नात्युक्तः प्राह रुक्षं प्रियं वा यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्। पापञ्च यो नेच्छति तस्य हन्तुस्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्** १७ भारत शान्तिपर्व अ० २९९। किसी दूसरे से निन्दित होने पर प्रिय अथवा अप्रिय वाक्य का प्रयोग नहीं करे अथवा ताड़ित होने पर धैर्य से सह ले और ताड़ना न करे और हननकर्ता को पाप होवे यह भी इच्छा न करे। ऐसे लोगों की देवगण नित्य चाह करते हैं।

महात्मा कबीर का वचन है—

जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोय तूँ फूल।

और हंस ने साध्य को ऐसा कहा है—

आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।

श्रेष्ठं ह्येतद्यत् क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्ज्जवमानृशंस्यम् ॥

महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २९९

गाली देने पर भी मैं कुछ नहीं उत्तर देता हूँ और प्रतिदिन ताड़ित होने पर भी मैं क्षमा ही करता हूँ, क्योंकि आर्य लोग क्षमा को श्रेष्ठ कहते हैं, और भी सत्य, कोमलता और दयालुता को।

तुलाधार ने जाजलि को यों कहा—

यो हन्याद्यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले !
समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाऽप्रियम् ॥

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६१

हे जाजलि! सुनो, जो मुझको मारता है और जो मेरी स्तुति करता है, वे दोनों मेरे लिए समान ही हैं। मुझको न कोई प्रिय है और न अप्रिय है। और—

यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः।
सर्व्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

महाभारत

जो सदा सत्य बोलते हैं, गुरु लोगों को संतुष्ट रखते हैं और कोई हानि करे तो भी हानि के बदले हानि नहीं करते,

ऐसे को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो अपमानित होने से भी क्रोध नहीं करता और सम्मान किये जाने पर भी हर्षित नहीं होता है ऐसे को देवता ब्राह्मण कहते हैं।

दम

तीसरा धर्म दम है जिसका अर्थ मन को विशुद्ध, शान्त और एकाग्र कर अन्तरात्मा के वश में करना और दुष्ट भावना के चिन्तन करने से, कुत्सित विषय-वासना की लालसा रखने से और दुष्ट सङ्कल्प के उत्पन्न होने, अथवा चिन्तन करने, से रोकना है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है—

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते ॥

जैसा मन में ध्यान करता वैसा बोलता है, जैसा बोलता वैसा कर्म करता है और जैसा कर्म करता वैसा फल पाता है।

शुक्रनीति का वचन है—

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नाभिरोचयेत् ।
स प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्म्मविदो विदुः ॥

मन में पाप करने की चिन्ता करने पर यद्यपि उस चिन्तन के अनुसार कर्म्म न किया जाय तो भी वह व्यक्ति उस पाप का फल पाता है।

प्रत्येक कर्म किये जाने के पहिले उसकी इच्छा, सङ्कल्प अथवा वासना मन में होती है। अतएव जिसके चित्त में मलिन वासना नहीं रहेगी और दुष्ट भावना के सोचने में जो प्रवृत्त न रहेगा उसके द्वारा कोई दुष्ट कर्म हो नहीं सकता।

मानसं सर्वभूतेषु वर्त्तते वै शुभाशुभम्।
अशुभेभ्यः सदाऽऽक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत्॥

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३०९

सब लोगों के मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की भावनाएँ रहती हैं किन्तु मन को अशुभ भावना से हटाकर शुभ में लगाना चाहिए। मनुष्य मन के ही कारण मनुष्य हुआ। मन मलिन वासना में फँसने से बन्धन का कारण होता है और बुरी वासना से छूटकर पवित्र और शान्त होने पर मोक्ष का कारण होता है। अतएव मन की शुद्धि और निग्रह करना अत्यन्तावश्यक है।

मन में अनन्तानन्त शक्ति है, जो उसके शुद्ध और एकाग्र होने से प्राप्त होती है। पूर्व में और आजकल भी देखा गया कि सङ्कल्प मात्र से रोग-शोक-निवारण, विग्रह-शान्ति, धर्म-प्रवृत्ति आदि उपकारी कार्य होते हैं और इसी प्रकार इस शक्ति के दुरुपयोग करने से दूसरों में रोग, शोक, भय, भ्रम आदि उत्पन्न हो सकते हैं। मेसमेरिजम, हिपनाटिज़्म आदि के आधुनिक चमत्कार केवल मनोयोग के नीचे की श्रेणी

की शक्ति का फल है। इस मन को केवल कामासक्त रहने से और इसकी शक्ति का केवल भोग-लिप्सा की प्राप्ति में उपयोग करने से यह जीवात्मा के बन्धन और संसृति-क्लेश का कारण होता है। और यही मन यदि भोगासक्ति से छुटकारा पाकर और शुद्ध, शान्त और समाहित होकर परम कल्याण और परमानन्द के एक मात्र आधार परमात्मा में संलग्न हो और परमात्मा के दिव्य गुणों को अपने में प्रकाशित करने का जीवन का मुख्योद्देश्य बनावे, तो मन ही मोक्ष का कारण होता है और तब यह परमात्मा में तन्मय हो जाता है। यह उभयात्मक मन ही इस जीवन-संग्राम का मुख्य क्षेत्र और आयुध भी है जिसका परिष्कार और सदुपयोग आवश्यक है महाभारत का वचन है—

मनो निश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः।
तेन सर्वानवाप्नोति यान्कामान् मनसेच्छति॥ २३॥

शान्ति, मो०, अ० ५९

प्राणी के लिये तपस्या अवश्य कल्याणकारी है किन्तु उस तपस्या का मूल मन और इन्द्रिय का निग्रह है। इनके निग्रह से सब प्रकार की कामना पूर्ण होती है। यह भारत का वाक्य अक्षरशः सत्य है। आजकल पाश्चात्य देश में मनोयोग (जिसको वे लोग आत्म-शक्ति कहते हैं) की शक्ति की परीक्षा हुई है जिससे सिद्ध हुआ कि उसके अभ्यासी का रोग,

अपना और दूसरे का भी, व्यवसाय में सफलता, विद्याभ्यास में निपुणता आदि एकाग्र और शान्त मन के उत्कट सङ्कल्प द्वारा प्राप्त होती हैं। जैसा पहिले कहा जा चुका है, मन उभयात्मक है। ऐसे नितान्त स्वार्थ-साधन में, जिसमें अन्याय और अधर्म और पराये की क्षति तक की जाती है, इसके प्रयोग से किंचित् लाभ होने पर भी अन्त में कर्त्ता का सर्वनाश होता है; किन्तु आत्म-शुद्धि, काम क्रोधादि का दमन, विद्योपार्जन, परोपकार, ज्ञान-प्राप्ति, ईश्वरोपासना, कर्त्तव्यपालन आदि सत्कर्म में प्रयोग करने से परम कल्याण की लब्धि होती है। अन्तःकरण जब सङ्कल्प विकल्प करता है तो वह मन है, जब पूर्व अथवा वर्तमान अथवा भविष्य के विषय का चिन्तन करता है तो वह चित्त है और सङ्कल्प, विकल्प और चिन्तन के पश्चात् जो निश्चय करता है वह बुद्धि है। इन सबमें जो अहंभाव वर्तमान रहता है वह अहङ्कार है। ये चारों—मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार—एक अन्तःकरण के चार प्रकार के भाव हैं, वास्तव में एक हैं। चारों की शुद्धि का नाम दम है।

मन-निग्रह अत्यन्तावश्यक किन्तु बहुत कठिन है। इसका निग्रह सांसारिक भोग के विषय को विचार द्वारा अनात्म और नाशवान् और अन्तिम परिणाम में दुःखद समझ उनकी आसक्ति का त्याग करने और केवल आत्मा को सत, चित्त और आनन्दरूप बोध करने से होगा। इस बोध के लिये भगवन्नाम अथवा मन्त्र के जप और ध्यान रूपी अभ्यास की आवश्यकता

है। मन-निग्रह के लिये यह भी आवश्यक है कि मन में किसी मलिन वासना को नहीं आने दिया जाय; आने से उसको विष के समान जान तुरन्त हटा दिया जाय, और जो कुछ कार्य्य, सांसारिक अथवा पारमार्थिक, किये जायँ उनमें मन को एकाग्र रखने का निरन्तर यत्न किया जाय। मन और चित्त से उच्च अपने को आत्मा समझना चाहिए और ऐसा पृथक् समझ मन-चित्त की कुत्सित वासना और दुष्परामर्श को कदापि नहीं स्वीकार करना चाहिए और निश्चय करना चाहिए कि ये कामादि शत्रु-दल द्वारा भेजे हुए हैं। ऐसा विचार कर मन को सात्विक भाव में संयुक्त करना चाहिए। यह एक प्रकार का संग्राम है जिसमें बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

स्मरण रहे कि बुद्धि से जो कार्य्य अनुचित निश्चय हो उसको चित्त के प्रलोभन पर भी नहीं करना चाहिए जिसके होने से बुद्धि अर्थात् इच्छा-शक्ति की सामर्थ्य बढ़ती है और आसक्ति का ह्रास होता है किन्तु विपरीत करने से आसक्ति बढ़ती है और इच्छा-शक्ति दब जाती है जिसके कारण वह उत्तरोत्तर गिरती जाती है। किन्तु आजकल जब कि नवयुवक सिगरेट को विष समझ के भी वासना के प्रलोभन में पड़कर उसका त्याग नहीं करते हैं, ऐसी अवस्था में क्या आशा है कि वे मन का निग्रह कर सकेंगे?

इस प्रकार आत्मा और अनात्मा (अनात्मा जड़ त्रिगुणात्मक प्रकृति के कार्य्य और आत्मा सत् चित् आनन्द रूप

द्रष्टा) के विचार-विवेक द्वारा स्वार्थ को परमार्थ में परिवर्तन करके सांसारिक कर्म को भी न्याय और धर्म के अनुसार कर्तव्य की भाँति सम्पादन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उपासना-ध्यान द्वारा इसकी चंचलता को दूर करने से एकाग्रता प्राप्त होती है। प्रथम अभ्यास यह है कि जो कुछ दैनिक कार्य्य शयनोत्थान के बाद से रात्रि में शयनपर्यन्त किया जाय वह एकाग्रता के साथ किया जाय अर्थात् जो कुछ कार्य्य अथवा भावना की जाय उस समय चित्त उस एक में ही संनिवेशित रहे और अन्य प्रकार की किसी भावना को चित्त में स्थान न दिया जाय, यदि आवे तो उसे तत्क्षणात् दूर कर दिया जाय। जैसा कि यदि भोजन कर रहे हैं तो केवल भोजन के सम्बन्ध की भावना उस समय चित्त में रहे अन्य कुछ नहीं रहे और सिवा भोजन के अन्य भावना नहीं आने पावे और आने से दूर कर दी जाय। यदि कोई पुस्तक पढ़ी जाय तो केवल उस पाठ्य विषय की भावना उस समय चित्त में रहने पावे, न कि उस समय भोजन अथवा यात्रा आदि की भावना। इस प्रकार प्रत्येक दैनिक कार्य्य को एकाग्रता के साथ करने से वह कार्य्य उत्तम रूप से सम्पन्न होगा और उसकी सफलता की सम्भावना अधिक हो जायगी। इसके द्वारा एकाग्रता शक्ति की प्राप्ति होगी। जिस सात्विक और पवित्र ध्येय में चित्त स्वाभाविक आकर्षित हो उस पर एकाग्रता के साथ ध्यानचिन्तन नियत समय पर करना चाहिए

और उस समय चित्त केवल उसी ध्येय पर संलग्न रहे और अन्य कोई भावना न आने पावे और न चित्त उस ध्येय को छोड़कर अन्यत्र जाय। यदि जाय तो उस भावना को शीघ्र चित्त से बाहर करके फिर ध्येय पर चित्त को संलग्न करना चाहिए। ध्येय पर चित्त संलग्न करने के अभ्यास के साथ उसके नाम का चिन्तन करने से विशेष सुविधा होती है और निद्रा का आना रुकता है। इसी कारण ध्यान के साथ जप का विधान है। दोनों प्रकार के अभ्यास द्वारा ही चित्त एकाग्र होता है, अन्य उपाय द्वारा कदापि नहीं—यह अटल सिद्धान्त है। गीता में भी यही सिद्धान्त है जैसा कि—यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् (गीता अ० ६—२६)। अस्थिर और चञ्चल मन जब जब आत्मा अर्थात् ध्येय से पृथक् चला जाय तब तब उसको वहाँ से लाके फिर आत्मा (ध्येय) में संलग्न करना चाहिए। कथा है कि किसी पण्डित का एक विद्यार्थी अनेक काल से एक पद को कण्ठस्थ करने का यत्न कर रहा था किन्तु वह कृतकार्य न हुआ। ऐसा सुनकर पण्डितजी ने उससे पूछा कि पाठ के रटने के समय तुम्हारे मन में क्या भावना रहती है? उसने उत्तर दिया कि एक भैंस के बच्चे की स्मृति वर्तमान रहती है। पण्डितजी ने उस विद्यार्थी को पाठ के रटने के बदले अपना पूरा चित्त केवल उस भैंस के बच्चे के ध्यान पर लगाने को कहा और उसने वैसा ही किया। 'कुछ समय के बाद पण्डित

जी ने उससे पूछा कि अब तुम अपने को क्या देखते और समझते हो? उसने उत्तर दिया कि मैं भैंस का बच्चा हूँ। चूँकि उस विद्यार्थी का स्वाभाविक चित्त भैंस के बच्चे पर जाता था, इस कारण उस स्वाभाविक प्रिय पदार्थ पर मन को एकाग्र करने से चित्त एकाग्र हो गया और ऐसी प्रगाढ़ एकाग्रता हो गई कि ध्याता उसके कारण भावना से ध्येय बन गया। इस प्रकार किसी को एक विषय पर एकाग्रता की सिद्धि हो जाने से और उसके द्वारा एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त होने से वह तब से जिस विषय पर चित्त को एकाग्र करना चाहेगा उस पर शीघ्र एकाग्र हो जायगा, क्योंकि एकाग्रता की शक्ति एक वार भी अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होने से फिर एकाग्र करना सहज हो जाता है। किसी विषय पर चित्त के एकाग्र होने से उसका आभ्यन्तरिक तत्त्व तक बोध में आ जाता है और विद्वानों के बड़े बड़े आविष्कार और ज्ञान का कारण यह चित्त की एकाग्रता की शक्ति है।

अस्तेय

चौथा धर्म अस्तेय है जिसका अर्थ अन्याय से किसी की कोई वस्तु किसी प्रकार से न लेनी अर्थात् स्तेय न करना है। यह स्तेय दोष केवल चोरी डकैती से दूसरे के धन को हरण करना ही नहीं है किन्तु दूसरे की वस्तु मात्र को, छोटी हो अथवा

बड़ी, जिसको न्याय से पाने का अधिकार नहीं है और न उसके मालिक ने प्रसन्नता से उसे दे दी है अथवा देना चाहता है, किसी प्रकार मालिक के जानते अथवा अनजाने, अथवा छल कपट द्वारा, अथवा मालिक को विवश करके, लेना स्तेय अर्थात् चोरी है। यह बहुत बड़ा अधर्म है और इससे निवृत्ति अस्तेय है। इस स्तेय को किसी न किसी रूप में आजकल अधिकांश लोग करते हैं। अन्याय से जो बड़े लोग अपनी प्रजा अथवा अन्य गरीब लोगों से बिना वेतन दिये परिश्रम करवाते, विवश कर अप्रसन्नता से नज़राना आदि लेते, ठीक और नियत कर अथवा देन से अधिक वसूल करते, कार्यकर्ता-गण घूस, रिशवत, तहरीर और अन्य प्रकार अन्याय से द्रव्यो-पार्जन करते हैं; दुकानदार कम तौलकर अथवा छल कपट, और असत्य द्वारा कम माल देते हैं; ये सब स्तेय अर्थात् चोरी के अन्तर्गत हैं। इस स्तेय का अवश्य फल यह होता है कि दोषी इस दोष की परिपक्वता होने पर प्रायः इसी जन्म में, किन्तु निश्चय आगामी जन्म में, निर्धन और दरिद्र हो जाता है। उसमें उपार्जन करने की योग्यता रहने पर और परिश्रम करने पर भी उसकी केवल अत्यन्त आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं होती है और वह सदा सन्ताप और क्लेश में दग्ध होता रहता है। अतएव यह नितान्त भ्रम है कि अन्याय से किसी की वस्तु को लेने से लाभ होगा, जैसा कि तत्काल मालूम पड़ता है। इसका अवश्य परिणाम यह होता

है कि अन्याय से उपार्जित धन के कारण न्यायोपार्जित धन भी उसके साथ कालान्तर में नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा धन दोपी की जीवितावस्था में नष्ट न भी होय तो भी उसके बाद अवश्य नष्ट हो जाता है। यह अधर्म लोभ और असन्तोष के कारण किया जाता है, जिसका त्याग विचार द्वारा करना चाहिए। यह निश्चय है कि पूर्व प्रारब्ध कर्मानुसार जो अपनी कमाई है उतनी की प्राप्ति पुरुपार्थ से अवश्य होगी और उससे अधिक प्राप्त होना प्रायः असम्भव है; ऐसी अवस्था में अन्याय से भी उतना ही प्राप्त होगा जो सन्तोष और धैर्य को अवलम्बन कर थोड़ा काल ठहरने से न्याय द्वारा पुरुपार्थ से अवश्य मिल जाता और वह धन सुखद और स्थायी होता। आजकल अधिकांश लोग अन्याय से उपार्जन करना चाहते हैं किन्तु सफलता केवल थोड़ों को प्रारब्ध की अनुकूलता के कारण होती है, अतएव प्रारब्ध-कर्म अवश्य प्रबल है। असन्तोष और लोभ का दुःखद परिणाम यह होता है कि एक तो अन्यायोपार्जित धन के कारण पूर्वार्जित न्याय की कमाई का भी ह्रास हो जाता है। दूसरे वह धन प्रायः व्यर्थ रूप में व्यय होता अथवा नष्ट हो जाता है। तीसरे उससे तृष्णा और अशान्ति अधिक बढ़ जाती है जो परम दुःखद है। चौथे भविष्य में निर्धनता का कष्ट भोगना पड़ता है। और पाँचवें अन्यायार्जित धन कदापि स्थायी नहीं रहता किन्तु कभी न कभी नष्ट हो ही जाता है और रहने पर भी उससे चित्त में

उद्वेग बना रहता है। इस प्रकार स्तेय से लाभ के बदले यथार्थ में सांसारिक दृष्टि से भी हानि ही होती है। प्रायः देखने में आता है कि न्यायोपार्जित थोड़े धन से भी सुख शान्ति मिलती है और वह स्थायी रहता है किन्तु अन्यायोपार्जित विपुल धन से शान्ति नहीं मिलती और वह यदि उपार्जन करने-वाले के जीते जी नष्ट न हुआ तो उसके पीछे अवश्य नष्ट होता है जैसा कि लिखा जा चुका है। इसके कारण लोगों को बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। जैसे स्तेय करनेवाला अवश्य समयान्त में दरिद्र हो जाता है, उसी प्रकार अस्तेय धर्म का अभ्यास करनेवाला अर्थात् अन्याय के उपार्जन से निवृत्त रहनेवाला कभी न कभी अवश्य धनी और सुखी होता है। यह फल तभी मिलता है जब कि अन्याय से उपार्जन करने का पूर्ण अवसर आने पर भी वह इस लोभ में न पड़े और न्याय से च्युत न हो। योगसूत्र का वचन है—"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" अर्थात् अस्तेय धर्म के लाभ से सब प्रकार के रत्न अर्थात् धन (सुख-सामग्री) मिलते हैं। मनु अ० ४ का वचन है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥१०६॥

सब शौचों में अर्थ-शौच (अस्तेय) को महर्षियों ने श्रेष्ठ कहा है। जो अन्याय से दूसरे का धन लेना नहीं चाहता

वही यथार्थ में पवित्र है, केवल मिट्टी पानी के व्यवहार से शुद्धि नहीं होती है।

और भी लिखा है कि—

मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईशावास्योपनिषत्

किसी की वस्तु अन्याय से मत लो। और—

न हर्त्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २५८।

दूसरे का धन अन्याय से न लेना ही सनातन धर्म है।

शौच

पाँचवाँ धर्म शौच है जिसका अर्थ पवित्रता है। जैसा कि—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥

मनुस्मृति अध्याय ५

जल से शरीर शुद्ध होता है, मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है, विद्या और तपस्या द्वारा इन्द्रिय और कामात्मक मन शुद्ध होते हैं और ज्ञान द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है।

लिखा है कि—

मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत !।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥

मन पवित्र रखना, क्रिया पवित्र रखना, कुल पवित्र रखना, शरीर पवित्र रखना और वचन पवित्र रखना, यह पाँच प्रकार की पवित्रता है।

ब्रह्मण्यात्मार्पणं यत्तत् शौचमान्तरिकं स्मृतम्।

महानिर्वाण तन्त्र

ब्रह्म में आत्मा को अर्पण करना आन्तरिक शौच है।

मृदां भारसहस्रैस्तु कोटिकुम्भजलैस्तथा।
कृतशौचोऽविशुद्धात्मा स चाण्डाल इति स्मृतः॥

बृहन्नारदीय पुराण अध्याय ३१

शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः।
शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥२॥
मृत्तिकानां सहस्रेण चोदकुम्भं शतेन च।
न शुद्धयन्ति दुरात्मानो येषां भावो न निर्मलः॥१०॥

अ० ५, दक्षस्मृति

दुष्ट-चित्त जन यदि हज़ार भार मिट्टी और कोटि जल के कलशों से शौच (पवित्रता) करें तो भी वे चाण्डाल ही के तुल्य हैं। शौच के पालन में सदा यत्न करना चाहिए। द्विजों के धर्म-कर्म का मूल शौच है; शौचाचार से विहीन के सम्पूर्ण कर्म निष्फल होते हैं। जिन पुरुषों का अन्तःकरण शुद्ध नहीं है वे दुष्टात्मा हज़ार बार मिट्टी और सौ घड़े जल से भी शुद्ध नहीं हो सकते।

बाह्य और आन्तरिक दोनों शौच करना चाहिए। यदि बाहर खूब सुथरा, चिकना और धोया हुआ है किन्तु भीतर मन मैला है, तो बाहरी शुद्धता किसी काम की नहीं। बाह्य-शौच के निमित्त स्नान, आचमन, मार्जनादि कर्म करना आवश्यक है। शास्त्र में शौच के विशेष वर्णन हैं और भोजनादि में शुद्धाशुद्ध का विचार और आवश्यक स्पर्शास्पर्श भी शौच के अन्तर्गत हैं। प्रातरुत्थान, मल-मूत्र का निवासस्थान से (यथासम्भव) दूर में त्याग, इनके वेग को न रोकना, अच्छे प्रकार से कुछ समय तक दन्तकाष्ठ द्वारा दाँतों को स्वच्छ करना, प्रातः स्नान अथवा अन्य समय में स्नान आदि द्वारा शरीर को स्वच्छ रखना, उत्तम मिट्टी, भस्म आदि को मलकर शरीर को स्वच्छ और शुद्ध करना, मकान और उसके आस-पास के स्थान को लीपने, पोतने, बुहारी देने आदि से और वायु और सूर्य के प्रकाश के प्रवेश द्वारा स्वच्छ और पवित्र रखना, और वहाँ मैला कुचैला नहीं रहने देना, वस्त्र भी स्वच्छ रखना, स्वच्छ और पवित्र जल का पान करना, शुद्ध वायु, और केवल प्रातःकाल सूर्य के प्रकाश का (मस्तक छोड़कर) सेवन करना, केवल आवश्यक निद्रा का सेवन (अधिक भी नहीं कम भी नहीं) आदि सब शौच के अन्तर्गत हैं और आरोग्यता के लिये, जो धर्मार्थ आदि चतुर्वर्ग का मूल है, आवश्यक हैं। यह शौच-धर्म कदापि उपेक्षा योग्य नहीं है, क्योंकि शरीर अपवित्र होने से मन भी अपवित्र हो जाता है; क्योंकि

दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि उन्नित रीति से शौचधर्म का पूरा पालन किया जाय तो मन की पवित्रता के सिवा शरीर स्वस्थ, नीरोग और सबल रहेगा और संक्रामक आदि अनेक व्याधियों से लोग बचे रहेंगे।

इन्द्रिय-निग्रह

छठा धर्म इन्द्रिय-निग्रह है। इन्द्रियों को अपने वश में रखना, उनको निन्दित विषयभोग की ओर नहीं जाने देना और उनको सदा कर्त्तव्य (धर्म) पालन में प्रवृत्त रखना इन्द्रिय-निग्रह है। किसी न किसी इन्द्रिय की निकृष्ट आसक्ति के निमित्त मनुष्य अधर्म करता है। अतएव जब तक इन्द्रियाँ वश में न होंगी तब तक अधर्माचरण रुक नहीं सकता। मनु भगवान् का वाक्य है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥९३॥

मनुस्मृति, अध्याय २

इन्द्रियों के दुष्ट विषयों में लगने से निस्संदेह दृष्ट अदृष्ट दोष को प्राप्त होता है किन्तु उन्हीं इन्द्रियों को भली भाँति वश में करने से सिद्धि की प्राप्ति होती है। सब इन्द्रियों को वश में करने की चेष्टा करनी चाहिए; क्योंकि एक के भी अवश रहने से अनर्थ होता है। लिखा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥९९॥

मनुस्मृति, अध्याय २

सब इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय भी कुत्सित विषयों में संलग्न हो जाय तो उसके द्वारा बुद्धि नष्ट हो जाती है जैसे चर्म के जलपात्र में छिद्र रहने से जल गिर जाता।

इन्द्रिय-निग्रह से यह तात्पर्य नहीं है कि इन्द्रियों से कोई काम न लिया जाय; किन्तु उनको ऐसा परिमार्जित कर वश में कर लेना चाहिए कि वे कभी कलुषित विषय-भोग की वाञ्छा न करें और न उसमें प्रयुक्त कर सकें अथवा विषय-भोग-निमित्त दुष्ट कर्म न करवा सकें। इन्द्रियों को सदा उत्तम, आवश्यक और कर्त्तव्य कर्म के करने में प्रयुक्त करना चाहिए। क्योंकि—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

मनुस्मृति, अध्याय २

भोग-कामना की इच्छा से इन्द्रियों के विषयों में नहीं पड़ना चाहिए। यदि उसमें कामासक्ति हो जाय तो मन को रोककर उस आसक्ति को त्यागना चाहिए। इन्द्रियजित् का लक्षण है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

मनुस्मृति, अध्याय ४

स्तुति तथा निन्दा सुनकर, सुखद तथा दुःखद स्पर्श होने से, सुरूप तथा कुरूप को देखकर, सुस्वादु तथा कुस्वादु भोजन करके और सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को सूँघ करके जो न हर्षित होता और न ग्लानि करता (दोनों में समान रहता) है वही जितेन्द्रिय है । और भी—

यस्मै प्राज्ञाः कथयन्ते मनुष्याः,
प्रज्ञामूलं हीन्द्रियाणां प्रसादः ।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि,
प्रज्ञालाभो नास्ति मूढेन्द्रियस्य ॥ ११ ॥

महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २८७

जिनको मनुष्य ज्ञानी कहते हैं सो (ज्ञानी का) ज्ञान इन्द्रियों के वश करने से होता है और जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया और जो इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की लालसा रखता है और उससे क्षुभित होता है उसको ज्ञान का लाभ नहीं होता* । ऋषभ ने पुत्र के प्रति कहा है—

---

* इन्द्रिय जब कभी विषयभोग की ओर झुके तो उसमें हठात् प्रवृत्त नहीं होना चाहिए किन्तु ठहर जाना चाहिए और उसके अन्तिम परिणाम के विचार करने में प्रवृत्त हो जाना चाहिए । ठहरने और

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ॥ १ ॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ५

मनुष्य-लोक में जन्म ग्रहण करके जिन मनुष्यों ने शरीर प्राप्त किया है उनको इस देह से दुःखदायी विषयों का भोग न करना चाहिए क्योंकि विषयों का भोग विष्ठाभोजी शूकर आदि को भी मिलता है*।

मनुष्य-जीवन का मुख्य कर्त्तव्य इन्द्रिय-निग्रह है, कुत्सित विषय-वासना में अनुरक्त इन्द्रियाँ यथार्थ में बड़ी अनर्थकारी प्रच्छन्न शत्रु हैं। वे आसक्ति के कारण माया के बन्धन में रखकर जीवात्मा को कैदी बनाकर आत्म-राज्य से च्युत रखती हैं और

विचार में प्रवृत्त होने से उसकी प्रबलता कम हो जायगी, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ प्रकृति के कार्य्य होने के कारण नश्वर हैं और ठहरकर विचार द्वारा उस विषय की चाह को दूर करना कठिन नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियों को रोकने से उनकी प्रबलता जाती रहेगी; किन्तु इन्द्रियों का विषय की ओर जाना न रोकने से वे उत्तरोत्तर प्रबल होती हैं।

* इन्द्रियों के विषय-भोग में फँसे रहना पशुधर्म है, जो मनुष्य के लिये अयोग्य है। मनुष्य को आन्तरिक शुद्धि, मानसिक आनन्द आदि की प्राप्ति की ओर चित्त को विशेष रूप से लगाना चाहिए। जो आनन्द शास्त्रज्ञान, कर्त्तव्यपालन और भक्तिसाधन द्वारा प्राप्त होता है, वह पशु आदि नीच वर्ग को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसको इसकी प्राप्ति की सामग्री जो अन्तःकरण है वह नहीं है। अतएव जो मनुष्य विषयभोग में रत है वह यथार्थ मनुष्य नहीं, पशु-तुल्य है।

संसृति-क्लेश की उलझन में फँसाये रहती हैं। अतएव इन शत्रु-रूपी इन्द्रियों का बिना दमन किये मनुष्य का कल्याण कदापि नहीं हो सकता और न वह आत्मोन्नति के मार्ग में अग्रसर हो सकता है। इन्द्रियों का निग्रह विशेष अध्यवसाय और प्रयत्न से होता है। भोगासक्त इन्द्रियों को परम शत्रु जानकर उनके कामात्मक विषय-भोग में दोष-दृष्टि की निर-भावना करने से, उनकी अपेक्षा निवृत्ति को परम श्रेयस्कर मानने से, और उनकी भोगात्मक प्रवृत्ति को विचार और दृढ़ सङ्कल्प द्वारा रोकने से, इन्द्रियनिग्रह हो सकता है; सच्चिदानन्दरूपी परमात्मा में तादात्म्य भाव रखने से, प्राकृतिक निकृष्ट भोग के विषयों को परिणाम में दुःखद और नश्वर निश्चय कर केवल आत्मा को यथार्थ आनन्द का एकमात्र कारण जानकर उस ज्ञान को व्यवहार में परिणत करने का यत्न करने से और इन्द्रिय-दमन के लिये ईश्वर से उपयुक्त सामर्थ्य पाने की प्रार्थना करने से इन्द्रियनिग्रह सम्भव है।

शरीर से ऊपर श्वास, श्वास से ऊपर इन्द्रिय, इन्द्रिय से ऊपर शब्दादि पञ्चतन्मात्रा की वासना मन, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। शरीर से लेकर बुद्धि तक आत्मा के वाहन अथवा भृत्य हैं। यदि वाहन अथवा भृत्य अपने प्रभु के वश में रहकर प्रभु के हित-साधन में रहता है तो दोनों का उससे कल्याण होता है किन्तु यदि वाहन अथवा भृत्य वश में न किया जाय और स्वेच्छाचारी रहे तो

उसकी हरकत से दोनों, प्रभु और भृत्य अथवा वाहन, का अमङ्गल होगा। यही हम लोगों की अवस्था है। हम लोग प्राय: कहा करते हैं कि अमुक कार्य में मेरी बुद्धि ने मुझे भ्रम में डाल दिया, मेरा मन दुष्ट हो गया। इस प्रकार हम लोग मन और बुद्धि से अपने को अवश्य पृथक् आत्मा मानते हैं, तथापि उनको शुद्ध और शासित करने का यत्न नहीं करते हैं; किन्तु उनकी कुत्सित वासना के अनुसार आहार विहार करते हैं जिसके कारण विपत्ति में पड़ते हैं। ऐसे उद्दण्ड और कामासक्त मन और इन्द्रिय शत्रु बन जाते हैं और अधःपतन का कारण होते हैं। इसलिये हम लोगों को चाहिए कि मन और इन्द्रिय की दुष्ट वासना और सङ्कल्प को कदापि स्वीकार न करें। इनसे अपने को पृथक् समझ इनको शुद्ध और वश में करें। यह कार्य विचार द्वारा अधर्म और अनुचित भावना तथा कर्म की प्रवृत्ति को दूर कर केवल शुभ भावना और धर्माचरण में रत रहने से होगा। गीता का निम्नकथित उपदेश इस विषय में स्पष्ट है जिसका पालन अवश्य करना चाहिए—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥ ४२ ॥

(अ० ३)

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
(अ० ६)

शरीर से इन्द्रिय ऊपर है, इन्द्रिय से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से जो ऊपर है वही आत्मा है। इस प्रकार बुद्धि से पर (ऊपर अर्थात् उसके प्रभु) आत्मा को जान आत्मा द्वारा ही नीचे के आत्मा बुद्धि आदि को वश में करके दुर्जय काम (वासना) रूप शत्रु को जीते। जिस जीवात्मा ने बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर रूप नीचे के आत्मा को जीता उसका तो ये मित्र होकर हित करते हैं और जिसने नहीं जीता उसकी वे, शत्रु बन, हानि करते हैं। अतएव यह हम लोगों का परम कर्त्तव्य है कि जिन शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि के सङ्ग हम लोगों का सदा वास है और सब भावना और कार्य्य जिनके द्वारा ही हो सकते हैं, अन्य द्वारा नहीं, उनको अवश्य शुद्ध और वश में करके मित्र बनाकर हितसाधन में रत रक्खें न कि शत्रु रूप बने रहने दें जिसके कारण वे सदा सर्वदा केवल अनिष्ट ही करेंगे।

विचार से अपने को बुद्धि के भी परे शुद्ध चैतन्य आत्मा बोध कर मन इन्द्रियादि की निकृष्ट वासनाओं को विष मान उनकी पूर्ति न कर और सात्विक भावना से शुद्ध और निग्रह करके कर्त्तव्य पालन और यथार्थ स्थायी उन्नति के सम्पादन में प्रवृत्त करना चाहिए।

जिह्वा, आँख, नाक, कान और शरीर की त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और हाथ, पाँव, शिश्न, उदर और गुह्य ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों में जिह्वा और जननेन्द्रिय (उपस्थ) का निग्रह मुख्य है।

जिह्वा-निग्रह

जिह्वा का कर्त्तव्य वाक्योच्चारण और भोजन है। वाक्य सत्य, सुखद, हितकर, आवश्यक, कर्त्तव्यसाधक, धर्म-मूलक आदि सद्गुणों से युक्त होना चाहिए और असत्य, अयथार्थ, दुःखद, अनावश्यक, उत्पात-जनक, अरुचिकर, अहित, अधर्म-मूलक आदि निन्दित का कदापि प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि शब्द ब्रह्म का रूप है। शब्द का दुरुपयोग करना बड़ा गर्हित कर्म है।

भोजन में केवल सात्विक पदार्थ का व्यवहार होना चाहिए। राजसिक और तामसिक पदार्थ का त्याग करना चाहिए। क्योंकि शुद्ध भोजन से केवल शरीर ही स्वस्थ और नीरोग नहीं रहता किन्तु मन और बुद्धि भी शुद्ध और स्वच्छ रहती है। इसके विरुद्ध राजसिक तामसिक भोजन से शरीर अस्वस्थ, रोगी और शक्तिहीन हो जाता है और मन बुद्धि भी कलुषित होती है। छान्दोग्योपनिषत् का वचन है—"आहारशुद्धौ

सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"। शुद्ध आहार के भोजन से अन्तर में भावना आदि की शुद्धि होती है जिसके होने से स्मृति की निश्चलता प्राप्त होती है और उसके कारण दोषों की ग्रन्थियाँ टूटती हैं।

गीता के १८ वें अध्याय के श्लोक ८ से ११ तक में इन तीनों प्रकार के भोजनों का विचार है और वहाँ राजसिक भोजन को दुःख, शोक और रोग का कारण कहा है। आर्य्य-शास्त्र में भोजन-विचार धर्म का मुख्य भाग है, क्योंकि भोजन पर शरीर और मन दोनों की आरोग्यता और स्वस्थता निर्भर है और ये दोनों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्पादन की मुख्य सामग्री हैं। अरवा चावल, गेहूँ, जव, तिल, मूँग, अरहर आदि अन्न, दुग्ध, घी, तक्र, मधु आदि रस, सब प्रकार के सुपच फल, सिंघाड़ा, मखाना, मुनक्का, किसमिस, अखरोट, छोहारा आदि सूखे फल, परवल, केला, पपीता, भिण्डी, तरोई, घीउरा, झिगुनी, नेनुआ, लौकी, श्वेत कूष्माण्ड (पेठा) आदि तरकारियाँ, परवल के पत्ते, पुदीना, वथुआ (वास्तुक), चौलाई, गदहपूरैना (पुनर्नवा) शाक आदि सात्त्विक आहार हैं। लालमिर्च, सब प्रकार के गर्म मसाले, आमलकी और कागजी नीबू के सिवा अन्य अम्ल पदार्थ, सोंठ और पीपर के सिवा कटु पदार्थ, अधिक परिमाण में ऊख के विकार गुड़ चीनी आदि का व्यवहार, गर्म पदार्थ, अधिक नमकीन, तीखा, रूखा, दाह करनेवाला, मत्स्य, मांस, अण्डा

आदि राजसिक पदार्थ हैं। सब प्रकार की नशीली वस्तुएँ जैसे मदिरा, ताड़ी, चाय, काफी, भाँग, गाँजा, चरस, अफीम आदि तामसिक पदार्थ हैं। राजसिक और तामसिक भोजन दुःख, व्याधि, बुद्धि की मलिनता और इन्द्रियों की कुत्सित उत्तेजना के कारण हैं और सात्विक भोजन से शरीर स्वस्थ, मन पवित्र, रोग की निवृत्ति और बल तथा तेज की वृद्धि होती है। भोजन के काल के विषय में स्मृति का वचन है—

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनङ्कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥६१॥

हारीत अ० ४

सन्ध्या और पूर्वाह्न में भोजन करने की विधि द्विजों के लिये वेद ने दी है; इस बीच में दोबारा भोजन नहीं करे जिसके न करने से इसका फल अग्निहोत्र के तुल्य है। भोजन को खूब चबाकर बहुत धीरे धीरे खाना चाहिए, उसमें कदापि शीघ्रता नहीं करना चाहिए। धीरे धीरे खूब चबाकर खाने से भोज्य पदार्थ शीघ्र पच जाता और अधिक पुष्टिकर होता है और शीघ्रता करने से अपक्व रह जाता और व्याधि का कारण होता है। भोजन का परिमाण मिताहार होना चाहिए जिसका लक्षण शास्त्र में यों है कि दो भाग उदर का अन्न से भरा जाय, एक भाग जल से और एक भाग वायु के सञ्चालनार्थ खाली रहे।

एकादशी आदि व्रत के दिन उपवास करना इन्द्रिय-निग्रह और आरोग्य के लिये भी परमावश्यक है।

जननेन्द्रिय-निग्रह

जननेन्द्रिय का निग्रह प्रधान निग्रह है, क्योंकि काम प्रबल शत्रु है। इसके निग्रह से वीर्य्य की रक्षा होती है जो मेधा, स्मृति, बल, ओजस्, आयु, स्वास्थ्य, पुरुषार्थ आदि का कारण है और जिसके दुरुपयोग और अपव्यय से ये सब नष्ट होते हैं। वीर्य के अपव्यय और दुरुपयोग से मन कमज़ोर और विशेष चंचल भी होता है जिसके कारण इन्द्रियों की कुप्रवृत्ति होती है और इस प्रकार धर्म का नाश होता है। जननेन्द्रिय का उपयोग केवल उत्तम और आवश्यक सन्तान की उत्पत्ति के लिये करना चाहिए जो पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये एक प्रकार का यज्ञ है। जो अपनी पत्नी के साथ भी विषय-भोग की भाँति व्यवहार करते हैं वे शरीर और मन दोनों को अपवित्र और कलुषित करते हैं किन्तु जो अविहित मैथुन अथवा वीर्य का दुरुपयोग करते हैं वे अवश्य अधःपतित होते हैं और इसका सब प्रकार से बहुत भयानक परिणाम होता है। यह परमावश्यक है कि बाल्यावस्था में वीर्य्य-रक्षा जिसका नाम ब्रह्मचर्य्य है उसके पालन में सब प्रकार से अत्यन्त सावधानी रहे और अट्ठारह वर्ष से पचीस वर्ष के भीतर विवाह हो,

इसके पूर्व कदापि न हो। विवाह के बाद भी स्त्री-समागम ब्रह्मचर्य्य के नियमानुसार ही होना चाहिए। शास्त्र की आज्ञा है कि एक महीने में केवल ऋतुकाल में एक अथवा दो रात्रि मात्र में आवश्यक सन्तान की उत्पत्ति के हेतु स्त्री-सङ्गम यज्ञ की भाँति करना चाहिए। गर्भावस्था में स्त्री-सङ्गम मातृ-सङ्गम के पाप के तुल्य है क्योंकि उसके कारण सन्तति भी कामासक्ति का स्वभाव लेकर उत्पन्न होती है। गर्भावस्था के समय की, विशेषकर माता की, भावना का प्रभाव गर्भ की सन्तति पर प्रबल भाव में पड़ता है। और शिशु-प्रसव के १ वर्ष के भीतर, स्त्री अथवा पुरुष के शरीर की अस्वस्थता आदि काल, और निन्दित तिथि (अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी, मनु० अ० ४ श्लो० १२८) आदि में स्त्री-सहवास कदापि नहीं करना चाहिए। कोई प्रतिपदा, षष्ठी, एकादशी और द्वादशी तिथि को भी सहवास के लिये वर्जित कहते हैं तथा व्यतिपात, ग्रहण, राम-नवमी, शिव-रात्रि, जन्माष्टमी आदि पर्व, श्राद्ध-दिवस, संक्रान्ति, रविवार दिन, और नक्षत्रों में आश्लेषा, मघा, मूल, कृत्तिका, ज्येष्ठा, रेवती, तीनों उत्तरा को भी वर्जित कहते हैं। मन्दिर में, रास्ते में, श्मशान में, औषधालय में, ब्राह्मण के घर में, गुरु के घर में, दिन में, सबेरे, सन्ध्या को, अपवित्र अवस्था में, दवा लेने के बाद, बिलकुल भूखे, खाने के बाद तुरन्त (भोजन के बाद ३ घण्टे तक सहवास हानिप्रद है), मित्र के और गुरुजनों के बिछौने पर, मल-मूत्र त्याग के वेग

में, दुःखी मन से, आवेग में, क्रोध में, व्यायाम करके, थकावट में, उपवास के दिन और दूसरे लोगों के सामने स्त्री-सहवास नहीं करना चाहिए। मनु० अ० ३ श्लो० ४६ से ४९ के अनुसार ऋतुकाल के प्रथम ४ रात्रि और ११ वीं और १४ वीं रात्रि निन्दित है और शेष छः में सम में बालक और विषम में कन्या की उत्पत्ति होगी। अतएव १० में भी केवल पाँच रात्रियाँ रह गई और इनमें भी निन्दित तिथि आदि को त्यागकर जो केवल पितृऋण से मुक्त होने के लिये सन्तानार्थ स्त्री-सहवास धर्म समझकर करता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी है। वचन है—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

मनु अ० ३-५०

ऋतावृतौ स्वदारेषु सङ्गतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

याज्ञवल्क्य

ऋतु के प्रथम ४थी, ११ वीं और १४ वीं रात्रि और अन्य निन्दित तिथि की रात्रि को त्यागकर जो केवल ऋतु को १६ रात्रियों के भीतर सन्तानार्थ स्त्री-सहवास करता है वह जहाँ कहीं, अर्थात् गृहस्थाश्रम में, रहकर भी ब्रह्मचारी बना रहता है। ऋतुकाल में अपनी धर्मपत्नी से शास्त्र के आदेशानुसार केवल सन्तानार्थ समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा करने से कोई निःसन्तान न होगा, जैसा कि प्रायः आजकल की दशा है। सन्तान हृष्ट-पुष्ट, मेधावी, चरित्रवान्, कार्यपटु, धार्मिक आदि सद्गुणों से विभूषित और दीर्घायु होगी, कदापि अकाल-मृत्यु के पञ्जे में न पड़ेगी, जैसा कि आजकल देखा जाता है और माता पिता भी नीरोग, बलिष्ठ और दीर्घायु आदि होंगे। ब्रह्मचर्य सब प्रकार की उन्नति और अभ्युदय का मूल कारण है जिसकी अवहेला ही भारतवर्ष की वर्तमान अधोगति का मुख्य कारण है और उसकी रक्षा से प्राचीन गौरव, श्री और विभूति का फिर प्रादुर्भाव होगा। आजकल जो समाज में अनेक प्रकार की व्याधि, अल्पायुपना, बलहीनता, धैर्य, उत्साह और कार्यपटुता का अभाव, दरिद्रता, मूर्खता, अज्ञता, लोलुपता, लम्पटता, आपस का वैर-विरोध, आलस्य, प्रमाद, अदूरदर्शिता आदि दुर्गुण सर्वत्र प्रचुर रूप में देखे जाते हैं उनका मुख्य कारण ब्रह्मचर्य का नाश है और इसकी रक्षा से स्वास्थ्य, दीर्घायुपना, समृद्धि, ज्ञान, निर्भीकता, उत्साह, कार्यपटुता, धैर्य, शौर्य, साहस, शम, दम, विचार आदि सद्गुणों का समाज में अवश्य विकास होगा और दुःख दारिद्र्य की कमी होगी।

इस महाप्रबल कुत्सित काम-वासना के दमन के लिये आन्तरिक मनोभाव की शुद्धि की आवश्यकता है। पुरुष को स्त्रीमात्र को आदि माता श्रीभगवती का अंश और रूप समझना चाहिए। दुर्गा-सप्तशती का वचन है "विद्याः समस्तास्तव देवि!

भेदा: स्त्रिय: समस्ता: सकला जगत्सु" अर्थात् हे देवी! सम्पूर्ण विद्या आपकी कला हैं और सकल संसार की स्त्रियाँ भी आपही का रूप हैं। महाभारत अनुशासन पर्व अ० १४४ का वचन है—"मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये। परदारेषु वर्त्तन्ते ते नरा: स्वर्गगामिन:"। जो नित्य दूसरे की स्त्री को माता, बहन अथवा कन्या समान देखते हैं वे ही स्वर्ग में जाते हैं। स्त्री को देखते ही माता का पूज्य-भाव चित्त में आना चाहिए न कि काम-भाव; यह परमावश्यक है।

स्त्री को पुरुष मात्र को नारायण का रूप समझना चाहिए और पिता, भाई, पुत्र के समान भाव रखना चाहिए। स्त्री के लिये इन्द्रिय-निग्रह का सुलभ उपाय पातिव्रत्य धर्म है जिसका मुख्य भाव यह है कि स्त्री अपने पुरुष को ही एकमात्र अपना परम इष्टदेव समझकर उन्हीं में अनुरक्त रहे और सिवा अपने पुरुष के दूसरे किसी को पुरुष ही नहीं समझे। केवल इस एक धर्म के पालन से उनका सब प्रकार का कल्याण सुलभ में सम्पन्न हो जाता है, अन्य कठिन साधनाओं का सम्पादन करना उनके लिये आवश्यक नहीं है। इस विषय में मनु का वचन यों है—

विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित:।
उपचर्य: स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पति: ॥१५४॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥१५५॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥१५६॥
कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥१५७॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यव्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥१६०॥

अ० ५

पति अनाचारी हो या परस्त्री में अनुरक्त हो, या विद्यादि गुणों से रहित हो तथापि साध्वी स्त्री को सर्वदा देवता की तरह अपने पति की सेवा करनी चाहिए। स्त्रियों के निमित्त न पृथक् यज्ञ है, न व्रत है और न उपवास है। केवल पति की सेवा से वे स्वर्गलोक में पूजित होती हैं। स्वर्गलोक की प्राप्ति करने की इच्छा रखनेवाली सुशीला स्त्री अपने जीते वा मरे पति का कुछ भी अप्रिय कर्म न करे अर्थात् व्यभिचार आदि निन्दित आचरण से अपना और अपने पति का परलोक न बिगाड़े। विधवा स्त्री को चाहिए कि पति के मर जाने पर पवित्र फल, फूल और मूल खाकर जहाँ तक हो सके इन्द्रिय-निग्रह रक्खे, परन्तु पर-पुरुष का कभी नाम तक न ले। पति के मरने पर जो पतिव्रता स्त्री ब्रह्मचर्य में स्थित रहती है, वह पुत्रहीन होने पर भी ब्रह्मचारी पुरुषों की भाँति स्वर्ग-लोक को जाती है।

बालकों का ब्रह्मचर्य

यह प्रकरण बालकों के इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् ब्रह्मचर्य की रक्षा की चर्चा बिना अवश्य अपर्याप्त रहेगा, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम आश्रम होने के कारण सब आश्रमों का मूल है। यदि बालकों में ब्रह्मचर्य की रक्षा न होकर मूल नष्ट हो गया तो अन्य आश्रम, जो शाखा की भाँति हैं वे, भी नष्ट-प्राय ही होंगे। आजकल यही देखा जाता है। लोग सर्वत्र उन्नति, सुधार, स्वतन्त्रता आदि की चिल्लाहट करते हैं किन्तु सब उन्नतियों का मूल कारण जो सब आश्रमों में, विशेष कर बालकों में, ब्रह्मचर्य का पालन है उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता है। इस ब्रह्मचर्य के ह्रास से देश में सर्वत्र दुर्दशा फैली हुई है और इसके सुधार से सब सुधार स्वतः सहज में हो जायँगे। तभी यह अधःपतित देश फिर अपना पूर्व गौरव प्राप्त करेगा। बाल-विवाह तो ब्रह्मचर्य का सर्वनाश कर ही रहा है किन्तु इसके सिवा बालकों में, विद्यार्थियों में और युवकों में भी, आजकल अनेक प्रकार के अस्वाभाविक मैथुन, अविहित मैथुन, अपरिमित मैथुन, अमानुषी मैथुन और कुदृष्टि, दुष्ट भावना, अनुचित वार्तालाप, अश्लील चर्चा, कुत्सित उपन्यासादि पुस्तक का अवलोकन, थियेटर आदि के दृश्य द्वारा जो अनेक प्रकार के

मैथुन प्रचलित हैं वे सब धर्म, अर्थ, बल, साहस, मेधा, पौरुष, विद्या आदि सद्गुणों को नष्ट कर सर्वनाश कर रहे हैं उनका रोकना परमावश्यक है। बालकों को विद्यारम्भ के समय सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य के नियमों को बतलाकर उनका पालन उनसे करवाना चाहिए। प्रथम पाठ्यावस्था में उपयुक्त शिक्षक द्वारा मुख्य कर धार्मिक शिक्षा अथवा अधिकांश में धार्मिक और किञ्चित् आर्थिक शिक्षा दी जाय और उनसे सन्ध्योपासना और होम आदि कृत्य नियम से कराये जायँ और उपयुक्त भोजन, सत्सङ्ग आदि का प्रबन्ध अवश्य हो। ऐसा करने से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा होगी। बालकों को ब्रह्मचर्य के अमित लाभ और उसके नष्ट करने से और अस्वाभाविक मैथुन और अकाल और अविहित मैथुन से जो शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की बहुत बड़ी हानि होती है और उसके कारण सांसारिक कार्य के साधन के लिये भी कर्त्ता निकम्मा और बेकार हो जाता है और स्वास्थ्य, आयु, बल, वीर्य, मेधा, पौरुष आदि अमूल्य रत्नों का सर्वनाश होता है, इनकी शिक्षा भी दी जानी चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ सब इन्द्रियों का, विशेष कर जननेन्द्रिय का, निग्रह कर वीर्य की रक्षा करना है। आजकल वीर्य-रक्षा के महत्त्व को लोग एकदम भूल गये हैं। लिखा है—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।

यजुर्वेद

ब्रह्मचर्येण तपसा, देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

अथर्ववेद

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

शिवोक्ति

एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं तथैकतः—

छान्दोग्योपनिषत्

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ! ॥

महाभारत ३६ अनुशा० अ० ७२ भीष्मोक्ति

मृत्युव्याधिजरानाशी पीयूषं परमौषधम् ।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं सत्यमेव वदाम्यहम् ॥
शान्तिं कान्तिं स्मृतिं ज्ञानमारोग्यञ्चापि सन्ततिम् ।
य इच्छति महद्धर्मं ब्रह्मचर्यं चरेदिह ॥

धन्वन्तरि-उक्ति

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षम् ।
वीर्यमेव बलम् बलमेव वीर्यम् ॥

उपनिषत्

वीर्य ही ब्रह्म, जीवन और सृष्टि-कर्त्ता है। देवता लोगों ने ब्रह्मचर्य रूपी तपस्या से मृत्यु का पराभव किया और

इन्द्र इसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवगणों के अधिपति हुए। तप यथार्थ तप नहीं है किन्तु ब्रह्मचर्य ही उत्तम तपस्या है। जो अमोघ ब्रह्मचारी हैं वे मनुष्य नहीं किन्तु देवता हैं। एक ओर चारों वेदों का ज्ञान और दूसरी ओर केवल ब्रह्मचर्य—दोनों समान हैं। हे राजा! जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मैं धन्वन्तरि तुम शिष्यों से सत्य सत्य कहता हूँ कि मरण, रोग और वृद्धपना का नाश करनेवाला, अमृत रूप और बहुत विशेष उपचार, मेरे विचार से, ब्रह्मचर्य है। जो शान्ति, सुन्दरता, स्मृति, ज्ञान, स्वास्थ्य और उत्तम सन्तति चाहता है, वह इस संसार में सर्वोत्तम धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करे।

वीर्य के विषय में उक्ति है—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षये यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति॥

चरक

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदस्यास्थिस्ततो मज्जा मज्जातः शुक्रसम्भवः॥

सुश्रुत

धातौ रसादौ मज्जान्ते प्रत्येकं क्रमतो रसः।
अहोरात्रात्स्वयं पञ्च सार्धदण्डश्च तिष्ठति॥

भोज

एवं मासेन रसः शुक्रो भवति पुंसां स्त्रीणाञ्चार्त्तवमिति
- सुश्रुत

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं वलपुष्टिकरं स्मृतम् ।
गर्भवीजं वपुःसारो जीवस्याश्रयमुत्तमम् ॥

वैद्यक

मनुष्य के भोजन का सबसे उत्तम सार वीर्य है। इस कारण यत्न से उसकी रक्षा करना चाहिए। क्योंकि वीर्य के नाश होने से अनेक प्रकार की व्याधि की भी उत्पत्ति होती है और उसका अन्तिम परिणाम मरण है। भोजन के पचने से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है। रस से मज्जा तक प्रत्येक धातु पाँच रात दिन और डेढ़ घड़ी तक अपनी अवस्था में रहती हैं, उसके वाद वीर्य की उत्पत्ति होती है (इस प्रकार ३० दिन रात और नौ घड़ी में रस से वीर्य की उत्पत्ति होती है)। इस प्रकार एक महीने में पुरुष का रस वीर्य और स्त्री का रज वनता है। वीर्य जीवनी-शक्ति का वढ़ानेवाला, श्वेत, चिकना, वल और पुष्टि का करनेवाला है। यह गर्भ का वीज, शरीर का सार-रूप और जीव का प्रधान आश्रय है।

ऊपर के वाक्यों से यह सिद्ध है कि शरीर में भोजन पान के पचे भाग से ३० दिन के वाद उसका अन्तिम सार वीर्य

बनता है जो जीवन और बल का परम आधार है। डल्लनाचार्य की उक्ति है कि "तस्माद्रसादिधातुस्नेहपरम्पराहेतुकः स्नेहः शुक्रः शुक्रस्नेहात्क्षीरस्थघृतमिवाभिन्नं ओजः" अर्थात् जैसे रसादि धातु का सार वीर्य है उसी प्रकार दूध में घी की अभिन्नता की भाँति वीर्य में "ओज" अभिन्न रूप से रहता है। इस "ओज" का वर्णन यों है—

ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्॥

योगचिन्तामणि

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते स्वशास्त्रसिद्धान्तात्। तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानाभ्यान्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति। ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं रसम्। विविक्तं मृदुमृत्स्नञ्च प्राणायनमुत्तमम्। देहस्यावयवास्तेन व्याप्ता भवति देहिनाम्। तदभावाय शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्।

यह ओज शरीर में व्याप्त रहकर चिकना, शीतल, स्थिर, उज्ज्वल और वीर्यरूप है और यह शरीर को बल और पुष्टि देता है। रस से लेकर वीर्य तक जो सात धातु हैं उन सबका परम तेज वह "ओज" है। बल भी वही है और उससे मांस की स्थिरता और पुष्टि, समस्त क्रियाओं द्वारा क्षति की पूर्ति, स्वर और वर्ण की उत्तमता, और बाहर और अन्तर की

इन्द्रियों की अपने कार्यों में पटुता, ये सब गुण प्राप्त होते हैं। ओज, सौम्य, स्निग्ध, श्वेत, शीत, स्थिर, मधुर, स्वच्छ, मृदु, चिकना और प्राणों का उत्तम आधार है। इससे शरीर के अवयव व्याप्त रहते हैं और इसके नाश से मनुष्य के शरीर नष्ट होते हैं। यह ओज वीर्य ही का रूपान्तर है जिसकी वृद्धि से इसकी वृद्धि होती है और ह्रास से ह्रास होता है। वाग्भट्ट का वचन है—

ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पाद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साह-प्रतिभा-धैर्य-लावण्य-सुकुमारताः॥
पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम्।
द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य, चत्वारो रजसस्त्रियाः॥

रस से लेकर वीर्य पर्यन्त सातों धातु के तेज को ओज कहते हैं जो विशेष कर हृदय में रहता है किन्तु है समस्त शरीर में व्याप्त। ओज की वृद्धि से ही तुष्टि, पुष्टि और बल की उत्पत्ति होती है और उसके नाश से मृत्यु होती है। यह ओज जीवन का आधार होने से शरीर के नाना प्रकार के गुण—जैसे उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य, और सुकुमारता—

इसी से प्राप्त होते हैं। पुरुष के ओज, मस्तिष्क और वीर्य का मान अपने एक चुल्लू के तुल्य है और स्त्रियों के दूध का परिमाण दो अँजुली और रज का चार अँजुली है।

ऊपर का परिमाण स्वस्थ और बलिष्ठ युवा पुरुष के लिये है किन्तु दूसरों में तो बहुत कम रहता है। यह स्वल्पवीर्य भी भोजन के पचे भाग से एक महीने के बाद तय्यार होता है जैसा कि लिखा जा चुका है। डाक्टर कोवन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी सायन्स आफ ए न्यु लाइफ" (The Science of a New Life) के पृष्ठ २०६ में लिखते हैं—"शरीर के किसी भाग में से यदि ४० औंस रुधिर निकाल लिया जाय तो वह एक औंस वीर्य के तुल्य होता है अर्थात् ४० औंस (करीब १½ सेर) रुधिर से एक औंस (½ छटाँक) वीर्य बनता है"। अमेरिका के प्रसिद्ध शरीर-वृद्धि-शास्त्रज्ञ मैकफडन महोदय ने अपनी पुस्तक "मैनहुड ऐन्ड मैरेज" (Manhood and Marriage) में इसी विचार को प्रकट किया है। ऐनसाइक्लोपीडिया औफ़ फिज़िकल कलचर (Encyclopaedia of Physical Culture) के पृष्ठ २७७२ पर वे लिखते हैं—"कई विद्वानों के कथनानुसार ४० औंस रुधिर से २ औंस वीर्य बनता है, परन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि एक औंस वीर्य की शक्ति ६० औंस रुधिर के तुल्य है"। Dr. Louis लिखते हैं "All eminent physiologists agree that the most precious atoms of the blood enter into the composition of the

semen."। कुछ विद्वानों का मत है कि ४० सेर उत्तम भोजन से १ सेर रक्त बनता है। १ सेर (८०तोला) रक्त से २ तोला वीर्य बनता है। स्वाभाविक ऋतुकाल के एक सहवास में आधा तोला वीर्य नष्ट होता है। अनुचित, कुसमय (छोटी अवस्था में, ऋतु से अन्य काल आदि में), दुर्बलता आदि में दुगुना चौगुना व्यय होता है। अस्वाभाविक वीर्य-पात में पचगुना सतगुना तक व्यय होता है।

इसी कारण शास्त्र में लेख है कि परस्त्रीगमन से आयु का बहुत बड़ा क्षय होता है। मैथुन से वीर्य-क्षय के सिवा स्नायु-तन्तु आदि अवयवों पर बहुत बड़ा आघात पड़ता है, उनमें कितने मूर्च्छित हो जाते हैं और सब बलहीन हो जाते हैं। लिखा है—"कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा भ्रमग्लानिर्बलक्षयः। राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः"।—मैथुन से कम्प, पसीना, थकावट, मूर्च्छा, भ्रम, ग्लानि, बल का नाश और राजयक्ष्मादि रोग होते हैं। लगातार ऐसे क्षय का परिणाम रोग, शोक, कमज़ोरी, अकर्मण्यता, आलस्य की वृद्धि, प्रमाद, मोह, बुद्धि-भ्रान्ति, मेधा-स्मृति की अत्यन्त निर्बलता अथवा लोप, कायरपना, दरिद्रता, अनमनस्कता और चञ्चलता, भीरुता, निरुद्यमता, घोर विक्षेप आदि दुर्गुण और दोष होते हैं और इनके कारण वह व्यक्ति जीते हुए भी मृतक के तुल्य बन जाता है, अनेक पागल हो जाते हैं और भयानक रोग और अकाल-मृत्यु तो इसमें अवश्यम्भावी हैं। जैसे कुसमय में पुष्प

की कली को खोलने का यत्न करने से अथवा किसी अन्न अथवा फल को समय के पूर्व तोड़ने से वे जैसे नितान्त निकम्मे हो जाते हैं, वही परिणाम बालक-बालिका की बाल्यावस्था के किसी प्रकार के मैथुन का भी होता है। शारीरिक और मानसिक उन्नति के सिवा वीर्य-रक्षा पर नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी निर्भर है। इसी कारण मनु की आज्ञा है कि विद्यार्थी-ब्रह्मचारी कदापि वीर्यपात न करे, जिसके करने से उसका व्रत अर्थात् विद्याभ्यास आदि की योग्यता ही नष्ट हो जाती है; क्योंकि वीर्य ही उसमें मुख्य साधन-सामग्री है। स्वप्न द्वारा भी आप से आप वीर्यपात होने पर उसकी पूर्ति सूर्यार्चन और मन्त्र के जप द्वारा, सूर्य की शक्ति को आकर्षण करके, कर लेना चाहिए। प्रमाण ये हैं—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥१८०॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥

मनु अ० २

ब्रह्मचारी सर्वत्र और सब अवस्थाओं में अकेला ही सोवे, कभी वीर्यपात न करे। जानकर वीर्य-क्षय करने से वह अपने व्रत से च्युत हो जाता है। यदि स्वप्न में ब्रह्मचारी का अनिच्छा से वीर्यपात हो तो वह स्नान करके सूर्य की अर्चना

कर "पुनर्मा" इस ऋचा को तीन बार जपै। केवल शुद्ध ब्रह्मचारी से इस जप द्वारा स्वप्न-दोष की थोड़ी पूर्ति हो सकती है किन्तु अन्य से यह सम्भव नहीं है; और जानकर जो वीर्य-पात किया जाता है उसकी पूर्ति होना तो असम्भव है। मैथुन आठ प्रकार के हैं जिन सबसे निवृत्त रहना चाहिए। लिखा है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

स्मृति

कुत्सित कामवासना के सम्बन्ध में स्त्री अथवा उसी प्रकार के अन्य विषय का स्मरण, उसकी चर्चा, अनुचित कामात्मक हँसी-मज़ाक करना अथवा वार्तालाप, निकृष्ट कामदृष्टि से किसी को देखना, कामोत्तेजन करनेवाले विषय की एकान्त में किसी से बातचीत करना, कामोद्दीपन करनेवाला अथवा किसी प्रकार के मैथुन का सङ्कल्प करना, किसी प्रकार के कामाचार के लिये यत्न करना और प्रत्यक्ष कामाचार करना, ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने कहे हैं। मोक्ष की कामना करनेवालों को (मनुष्य-जीवन का प्रधान उद्देश्य सब प्रकार के दुःख से नितान्त निवृत्ति अर्थात् मोक्ष है) इन आठों का त्याग अवश्य करना चाहिए। यह प्रसिद्ध कथा है कि श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीता जी की नित्य चरण-

वन्दना के कारण केवल उनके पग को देखते थे; उन्होंने दूसरे अङ्ग पर कदापि दृष्टि नहीं दी और इसी कारण वन में सीता-हरण के बाद उनके गिराये हुए आभूषणों में केवल पग के आभूषण को छोड़कर वे अन्य आभूषण को नहीं पहचान सके*। फिर जब श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी को श्रीवाल्मीकि महर्षि के आश्रम पर, भाई के आज्ञानुसार त्यागकर लौट रहे थे, उस समय श्रीमहारानीजी ने उन्हें अपने शरीर के गर्भ-चिह्न को देखने के लिए कहा ताकि पीछे इसका भी अपवाद न हो। उत्तर में श्रीलक्ष्मणजी ने इस आवश्यक देखने के भी इनकार में यों कहा—

दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे।
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितो वने ॥ २२ ॥

वाल्मीकि रा० उत्तर का० अ० ५६

इसके पूर्व मैंने सिवा पग के आपका अन्य भाग कभी नहीं देखा। इस कारण जब कि इस समय यहाँ वन में श्रीरामचन्द्रजी नहीं हैं, मैं कैसे देख सकता हूँ? श्रीलक्ष्मणजी के इस चरित्र और भाव का अनुकरण विद्यार्थियों को अवश्य करना चाहिए और श्रीहनुमानजी, श्रीभीष्म, श्रीशुकदेव, सन-

---

* नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

वाल्मीकि रामायण

कादि महर्षि आदि आजन्म ब्रह्मचारियों के चरित्र पर मनन कर उनको भा ब्रह्मचर्य्य की रक्षा के लिये अपना आदर्श बनाना चाहिए।

स्त्री-सहवास के उपयुक्त काल पर ऐसा प्रमाण है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्॥

सुश्रुतसंहिता का वचन है—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्य पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

पचीस वर्ष में पुरुष का वीर्य और सोलह वर्ष में स्त्री का रज दोनों समान हो जाते हैं। इस बात को चतुर वैद्य जानते हैं। (इस कारण) यदि १६ वर्ष से कम आयुवाली स्त्री में २५ वर्ष से न्यून उम्रवाला पुरुष गर्भाधान करेगा तो वह गर्भ पेट में ही नष्ट हो जायगा। यदि उस गर्भ से सन्तति उत्पन्न हुई, तो वह जीती नहीं रहेगी। यदि जीती रही तो सब प्रकार से अत्यन्त दुर्बल रहेगी। इसलिये पुरुष अथवा स्त्री को कम उम्र में कदापि गर्भाधान न करना चाहिए।

बालकों में ब्रह्मचर्य के पालन का मुख्य उपाय यह है कि उनको उपयुक्त शिक्षा, उपदेश और सत्संगति द्वारा वीर्य-

रक्षा की परमावश्यकता, महत्त्व और इसकी उपेक्षा अथवा क्षय से जो बड़ी विपत्ति और सर्वनाश होते हैं उनके सम्बन्ध में पूरा निश्चय और विश्वास उत्पादन करवा देना चाहिए; क्योंकि वे प्रायः बाल्यावस्था में इन बातों से अनभिज्ञ रहते हैं और कुसंग और अज्ञान के कारण इस अनर्थकारी दुर्व्यसन के करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। जब वे इनके दुष्परिणाम को भोगने लगते हैं तब तो शोक करते हैं किन्तु उससे तब क्या हो सकता है ? फिर तो सर्वनाश ही है। अतएव इसमें उपयुक्त ज्ञान प्रथम सीढ़ी है जिसके बाद बालक को वीर्यरक्षा के लिये दृढ़ सङ्कल्प करना चाहिए और उसे कभी भूलना नहीं चाहिए। सन्ध्योपासना, होम, जप, स्तोत्रपाठ, ध्यान, योग के आसन, सात्विक भोजन, सत्संगति आदि से उनको आवश्यक शक्ति मिलेगी जिससे वे वीर्य-रक्षा कर सकेंगे। आसन में सिद्धासन और पश्चिम-तान (जिसको महामुद्रा भी कहते हैं) का अभ्यास प्रतिदिन नियत रूप से करना आवश्यक है। सिद्धासन यों है—"बाँये पाँव की एड़ी को गुदा और अण्डकोश के बीच के भाग में दृढ़ता के साथ दबा के रक्खे और दाहिने पाँव की एड़ी को इन्द्रिय के ऊपर के भाग में दृढ़ता से लगावे।" "यही मुख्य आसन है जिसको लगाकर या तो कन्धा मस्तक को सीधा करके बैठना चाहिए और ऐसा करके ध्यान-जप करना चाहिए अथवा ठोड़ी हृदय के ऊपर कंठमूल में हृदय से थोड़ी दूर पर लगाकर स्थिर और सीधा शरीर करके पलकों और आँखों को न हिलाते हुए भौंहों के

बीच में दृष्टि को स्थिर करना चाहिए।" पश्चिम-तान यों है—"एक पाँव की एड़ी को गुदा और अण्डकोश के बीच के स्थान में जमाकर दूसरा पाँव सीधा आगे रखना। स्मरण रहे कि जिस पग की एड़ी गुदा और अण्डकोश के बीच रही है उसके पाँव के तले से दूसरी जंघा पर अच्छे प्रकार दबाव आना चाहिए। तत्पश्चात् दोनों हाथों से उस फैले पाँव को पकड़कर उसी पाँव के घुटने पर सिर अथवा नाक लगाकर बैठे। फिर दहिने पाँव की एड़ी को नीचे दे बाँया पग फैलाकर ऐसा ही सिर को झुकाना और फिर दोनों पाँवों को फैलाकर दोनों पाँवों की अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़कर अथवा केवल दोनों पाँव के अँगूठों को अपनी अपनी ओर के हाथ से पकड़ मस्तक को झुकाकर पैर में सटाना। इस प्रकार तीनों मिलकर एक अभ्यास हुआ। आरम्भ में सिर के झुकाने में और पग के स्पर्श करने में कठिनाई होगी किन्तु जितना सहज में झुक जाय उतना ही झुकाया जाय, अधिक नहीं। इस प्रकार शनैः शनैः ठीक हो जायगा। इस प्रकार कम से कम पाँच बार प्रातःकाल और सन्ध्या समय भी करना चाहिए।

धी

सातवाँ धर्म धी अर्थात् उत्तम बुद्धि है जिससे कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। यह धी-शक्ति सत्शास्त्रों के अनुशीलन करने से, उनके सिद्धान्त पर वारम्बार विचार करने से, शास्त्र के आदेश का पालन करने से, अपने और दूसरे के

क्रिया-कलाप और अनुभव के परिणाम को हृदयङ्गम करने से और इनके द्वारा ज्ञानलाभ कर उसके अनुसार व्यवहार करने से प्राप्त होती है। यह भला बुरा समझने की कसौटी है।

विद्या

आठवाँ धर्म विद्या है जिसका यथार्थ अर्थ ईश्वरसम्बन्धी अनुभवजन्य-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्या की प्राप्ति और उसकी प्राप्ति के लिये विचक्षण सात्विकी बुद्धि की प्राप्ति करनी है। यह केवल शास्त्रज्ञान अथवा बुद्धि का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है। ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति से तापत्रय का अत्यन्त अभाव हो जाता है और फिर वे आ नहीं सकते। इसकी प्राप्ति होने पर अन्तर्दृष्टि खुलती है।

चूँकि इस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये वेदाभ्यास और शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है, अतएव अक्षरारम्भ से लेकर उपनयन, वेदारम्भ आदि संस्कार, नित्यकर्म, विद्याध्ययन आदि सब इस विद्या-धर्म की साधना हैं। इस धर्म का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को साक्षर होकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य रख के अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह करके उपयुक्त विद्याध्ययन करना आवश्यक है और इसका सम्पादन न करना अधर्म है। इसी कारण त्रिवर्ण द्विज और शूद्र के बालक के लिये भी बाल्यावस्था में विद्याध्ययन करना शास्त्रानुसार अवश्य कर्त्तव्य और धर्म है। इस प्रकार मनु-महाराज के आदेशानुसार प्रत्येक मनुष्य के लिये विद्याभ्यास अनिवार्य है जिसके न करने

से वह मनुष्य मानव-समाज में रहने योग्य नहीं है। विद्याभ्यास का मुख्य तात्पर्य विद्या-शक्ति के लाभ से अविद्यान्धकार का नाश कर ब्रह्म की प्राप्ति करना है जिसके लिये यत्न करना परम धर्म है। अधिक वय हो जाने पर भी इस महत् उद्देश्य से विद्याध्ययन का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि वह संस्कार होकर आगे जन्म में बड़ी सहायता करेगा। महाभारत में लिखा है—"गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः। यद्यपि स्यान्न फलदा सुलभा साऽन्यजन्मनि।" अधिक वयस् होने पर भी बुद्धिमान् को विद्याभ्यास सब प्रकार से प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि वर्तमान जन्म में फल न देने पर भी आगे के जन्म में वह सुलभ हो जायगा।

सत्य

नवाँ धर्म सत्य है जिसका अर्थ यह है कि जो वस्तु अथवा क्रिया अथवा सङ्कल्प जैसा हो अथवा हुआ हो अथवा है अथवा होनेवाला हो उसको वैसा ही ठीक ठीक कहना, वर्णन करना और दूसरों को जताना, सोचना और इसके सम्बन्ध में ठीक वैसी ही क्रिया अपने जानते करना जिससे दूसरों को उसकी यथार्थता का आभास अथवा विश्वास अथवा ज्ञान हो। इसके विरुद्ध को असत्य कहते हैं।

सत्य का स्वरूप यों वर्णित है—

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम्।

याज्ञवल्क्य संहिता

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१३८॥

मनु अ० ४

प्राणियों का हित करना सत्य है और अयथार्थ न बोलना भी सत्य है। जो वार्ता सत्य हो और प्रिय हो वही बोले। सच हो किन्तु प्रिय न हो अथवा प्रिय हो किन्तु सत्य न हो तो वह न बोले—यह सनातन धर्म है। महाभारत का वचन है—

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
श्रुतिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥

शान्तिपर्व, अध्याय १६२

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यश्चैव प्रजापतिः ।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥३४॥

अनुगीता अ० ३५

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है और धर्म का श्रवण करना भी सत्य ही का रूप है, अतएव सत्य का कदापि त्याग न करे।

ब्रह्म सत्य है, तपस्या सत्य है, प्रजापति सत्य हैं, सत्य से भूतों की उत्पत्ति हुई है (अतएव) जगत् सत्यमय है।

मनु भगवान् का वचन है—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२५६॥

मनुस्मृति, अध्याय ४

सब अर्थ शब्दों ही में वाच्यभाव से नियत हैं और शब्दों का मूल वाणी है, क्योंकि सब बातें शब्दों ही से जानी जाती हैं, इससे वाणी से निकली कही जाती हैं, अतएव जो उस वाणी को चुराता है अर्थात् अन्यथा कहता है वह मनुष्य सब भाँति चोरी करनेवाला होता है अथवा उसे सब वस्तु की चोरी करने का दोष होता है। लिखा है—

सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्व्वथा ।
कामक्रोधौ वशे यस्य तेन लोकत्रयं जितम् ॥

महानिर्वाणतन्त्र

जो सत्य के अभ्यास में दृढ़ है, सदा दुखियों पर दया रखता है और काम क्रोध जिसके वश में हैं उसने तीनों लोकों को मानों जीत लिया। और—

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति ।

प्रश्नोपनिषद्, छठा प्रश्न

जो सत्य भाषण करता है वह समूल और सम्पूर्ण रूप से सूख जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है। और—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम् ।
तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥*

वाल्मीकीय रामायण

हज़ार अश्वमेध यज्ञों को तराज़ू की एक ओर और सत्य को दूसरी ओर रख के तौलने से देखता हूँ तो सत्य ही का पलड़ा भारी होता है। और—

सत्यमेव जयति नानृतम् ।

उपनिषद्

सत्य ही की जय होती है, झूठ की नहीं। गोस्वामी तुलसीदास का वचन है—

चौ०—धर्म्म न दूसर सत्य समाना ।
आगम निगम पुरान वखाना ॥

रामचरितमानस

महात्मा कवीर का वचन है—

दोहा

साँच वरोवर तप नहीं, झूठ वरोवर पाप ।
जाके हृदया साँच हैं, ताके हृदया आप ॥

---

* भारत शान्तिपर्व अध्याय १६२ श्लोक २६ में भी यह है और उक्त अध्याय में और भी लिखा है कि केवल सत्य के अभ्यास से तेरह सद्गुण प्राप्त होते हैं।

साँचे श्राप न लागई, साँचे काल न खाय ।
साँचे को साँचा मिले, साँचे माँहि समाय ॥

भगवान् पतञ्जलि मुनि का वाक्य है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

योगसूत्र

सत्य में दृढ़ होने से जो क्रिया करता है वह अवश्य सफल होता है अर्थात् जो कहता वह अवश्य होता है और जो काम आरम्भ करता है उसमें इच्छित फल प्राप्त होता है ।

भीष्म की यह प्रतिज्ञा है—

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥

महाभारत, वनपर्व अ० ७२

युधिष्ठिर का ऐसा वाक्य है—

राज्यञ्च पुत्राश्च यशोधनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ।

वही, अ० ३३

और भी—

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत् ॥

वही, अनु० अ० ७५

भीष्म की प्रतिज्ञा है कि मैं त्रिलोक और देवताओं के राज्य को त्याग सकता हूँ और इससे अधिक का भी त्याग कर सकता हूँ किन्तु कदापि सत्य का त्याग नहीं कर सकता। युधिष्ठिर का वाक्य है कि राज्य, पुत्र, यश, धन ये सब सत्य की एक कला के भी तुल्य नहीं हैं। सत्य से सूर्य तेज देते हैं, सत्य ही से अग्नि प्रज्वलित होती है, सत्य से ही वायु बहती है, सब कुछ सत्य के आधार पर है। सत्य से देवता, पितर और ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं, सत्य परम धर्म है, अतएव सत्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

आजकल लोग समझते हैं कि सत्य का पालन सांसारिक कार्य्य के व्यवहार में नहीं हो सकता है; पालन करने से हानि होगी किन्तु यह नितान्त भूल है। सत्य के पालन से ही सांसारिक कार्यों में भी, अन्तिम परिणाम में, स्थायी लाभ अवश्य होता है और कदापि हानि नहीं हो सकती है; यद्यपि प्रमाद से हानि की सम्भावना समझी जाती है असत्य से तात्कालिक लाभ देखने में आता है किन्तु वह शीघ्र लुप्त हो जाता है। इसके पालन में दीर्घ धैर्य की आवश्यकता है।

अक्रोध

दसवाँ धर्म अक्रोध अर्थात् क्रोध नहीं करना है। विचार और बुद्धि को क्रोध इस प्रकार कलुषित और संकुचित कर

देता है कि जो न करने योग्य है उसको करवा देता है। अत-एव क्रोध परम प्रबल शत्रु और अधर्म का मूल है। गीता में काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार बताये गये हैं। (अ० १६—२१)

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारसाधनम्।
धर्म्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तं परिवर्ज्जयेत् ॥ ५२ ॥

बृहन्नारदीय पुराण अध्याय ३२

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः।
क्रोधो ह्यसिर्म्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥

वाल्मीकीय रा०, उत्तर, अ० ३१

मन के ताप का क्रोध मूल है, क्रोध से संसारचक्र में पड़ना होता है और क्रोध धर्म का नाश करनेवाला है, अतएव क्रोध को त्यागना चाहिए। क्रोध प्राण का नाश करनेवाला शत्रु है और यह बनावटी मित्र बनकर शत्रु का काम करता है। यह बड़ा तीक्ष्ण खड्ग है और सब उत्तम गुणों का नाश करनेवाला है।

क्रोध मनुष्य का परम शत्रु है। इसकी उपमा चाण्डाल से भी दी गई है। लोगों को समझना चाहिए कि इस क्रोध शत्रु के प्रभाव में पड़कर जो काम किये जायँगे वे महान् अनिष्टकारी होंगे। अतएव हम लोगों का कर्त्तव्य है कि प्रथम तो इस क्रोधरूपी परम शत्रु को अपने भीतर प्रगट नहीं होने दें जो "अहिंसा", "क्षमा" और

निरहङ्कार रूपी शस्त्र से सुसज्जित रहने से होगा और दूसरे यदि वह कदापि प्रगट भी हो जाय तो उसको शत्रु समझ उसके आदेशों को कदापि नहीं मानें और विचार में प्रवृत्त हो जायँ। सद्बुद्धि का आवाहन कर उनकी शरण, उपयुक्त परामर्श देने के लिये, हो जायँ। ऐसा करने से क्रोध के दुष्ट परिणाम से बच सकते हैं। वैज्ञानिक-परीक्षा से देखा गया है कि क्रोधित मनुष्य का शरीर विषाक्त हो जाता है, यहाँ तक कि परीक्षा करने से उसके थूक में भी विष पाया गया है। उसके रुधिर, मांस सब विष से पूरित हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध शरीर और अन्तरात्मा दोनों की हानि करता है। अष्टाङ्ग योग के प्रथम और दूसरे चरण जो यम और नियम हैं वे भी इस दश धर्म के अन्तर्गत ही हैं।

धर्म की प्रधानता

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति

किसी धर्म के आचरण में कोई आश्रम कारण नहीं है, क्योंकि करने से सब आश्रमों में धर्म-प्राप्ति होती है। इस निमित्त जो अपने को हित न हो वह दूसरे को भी न करे।

सामासिक और साधारण धर्म, जो मुख्य धर्म है और जिसका अभ्यास सबों के लिए अवश्य कर्त्तव्य है, उसका लक्षण और प्रमाण मनु के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में यों है—

अद्रोहेनैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।
अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥११॥
प्रजनः स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥१२॥
तस्मादेतत्प्रयत्नेन कौन्तेय ! परिपालय ।

तत्रैव, अ० ३१

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
आत्मव्रतमलोभित्वं देवतानां च पूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ।

विष्णुस्मृति

दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।
अकार्पण्यास्पृहत्वं च सर्वसाधारणो विधिः ॥

बृहस्पतिस्मृति

क्षमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥१७॥

महाभारत, राजधर्म अ० १२

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा दया ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ॥ ७ ॥

तत्रैव अ० ६०

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः ।
तत्ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥१७॥
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥१८॥

तत्रैव, अ० ७६

किसी की हानि किये विना जिस धर्म का पालन हो उसी को सज्जन धर्म कहते हैं। किसी की क्षति न करना, सत्य बोलना, ज़िसका जो हो उसको उसे देना, दया, इन्द्रिय-निग्रह, अपनी स्त्री में केवल सन्तति के अर्थ प्रसंग, कोमलता, अधर्म करने से स्वाभाविक निवृत्ति और मन की शान्ति, इनको स्वायंभुव मनु ने प्रधान और इष्ट (मुख्य) धर्म कहा है। इसलिये हे कौन्तेय! अध्यवसाय द्वारा इनका पालन करो। क्रोध नहीं करना, सत्य बोलना, ज़िसका जो हो उसको उसे देना, क्षमा, दया, सिर्फ़ अपनी स्त्री में केवल सन्तति के अर्थ में प्रसंग, शौच, अहिंसा, कोमलता, भृत्यों का पालन ये धर्म सब वर्णों को करना चाहिए। सर्व-श्रेष्ठ वेद ने तपस्या को सबसे बड़ा कहा है, इसलिये तप क्या

है? यह बतलाता हूँ, सुनो। अहिंसा, सत्य बोलना, दया, परोपकार, इन्द्रिय-निग्रह, पाप से स्वाभाविक निवृत्ति ये सब तप हैं; शरीर को कष्ट देना तप नहीं है।

धर्म स्वाभाविक है

आजकल प्रायः अधिकांश लोग मनु-कथित उपर्युक्त दश धर्मों पर विशेष लक्ष्य नहीं रखते और उनकी प्राप्ति को अपना मुख्य लक्ष्य नहीं बनाते। यही कारण आजकल लोगों में धर्म के ह्रास और अवनति का है। ये १० धर्म ही यथार्थ और मुख्य धर्म हैं जिनकी प्राप्ति से सब प्राप्त हो जाता है और जिनके बिना अन्य सब साधन, अभ्यास और क्रिया-कलाप आदि व्यर्थ हैं। चूँकि मनुष्य मात्र के लिये ये स्वयंसिद्ध स्वाभाविक धर्म हैं, अतएव ये निर्विवाद हैं। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय को इन धर्मों के आचरण की आवश्यकता में कोई शङ्का नहीं है और न हो सकती है, बल्कि मनुष्यमात्र की साधारण बुद्धि भी स्वतः इनको आवश्यक समझती है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सत्य, अस्तेय आदि सद्गुणों को ख़राब मानता हो, यद्यपि आचरण में उनके विरुद्ध भी चलता हो। घोर असत्यवादी भी असत्य को ख़राब समझता है और असत्यवादी कहे जाने पर अप्रसन्न होता है। ये धर्म ऐसे हैं जो केवल किसी धर्म-ग्रन्थ अथवा व्यक्ति-विशेष के आदेश

पर निर्भर नहीं हैं किन्तु मनुष्यमात्र की स्वाभाविक आन्तरिक बुद्धि इनकी सत्यता और आवश्यकता की साक्षी है और इनका अनुमोदन करती है, और इस कारण ये परम मान्य हैं। मनुष्य के लिये ये धर्म स्वाभाविक हैं, इस कारण इनका आचरण करना मनुष्य का परम कर्तव्य है और इसी लिये इसकी उत्तमता समझने की स्वाभाविक बुद्धि मनुष्य में है। प्रत्येक मनुष्य की आन्तरिक बुद्धि कहती है कि सत्य बोलना धर्म और झूठ बोलना पाप है और इसके मानने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यही दशा अन्य धर्म के लक्षण की भी है।

सब प्राणियों में एक परमात्मा का वास होना और यह विश्व उन्हीं परम कारण से निःसृत, अतएव उन्हीं का अंश अथवा विराट्-शरीर होना और वे ही सबके एक मात्र आश्रय और लक्ष्य हैं, यही मुख्यकर इन धर्मों का आधार है और इस सिद्धान्त से ये धर्म स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। यदि दूसरे भी अपने समान आत्मा ही हैं और सब एक ही परमात्मा के अंश हैं और उस दृष्टि से सबों के साथ आत्मिक एकता है तो हिंसा, स्तेय, असत्य आदि द्वारा दूसरे की हानि करनी मानो अपनी हानि करनी है और परमात्मा जो सबके आत्मा हैं उनके विरुद्ध कर्म है, अतएव महाअधर्म है।

आजकल धर्माभिमानी लोग भी इन धर्मों के आचरण को परमावश्यक नहीं मान, इनकी प्राप्ति के लिये विशेष यत्न नहीं कर, उपधर्म की ओर लक्ष्य रखते हैं जिसके कारण धर्म-

भाव का उनमें आविर्भाव नहीं होता और उसके कारण यथार्थ अभ्युदय का लाभ नहीं मिलता, जो केवल यथार्थ धर्म के आचरण से ही होता है और धर्म के विरुद्ध आचरण करके केवल उपधर्म से कदापि होने को नहीं। महाभारत का वचन है—

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः॥
भीमसेनार्जुनौ चेमौ माद्रेयौ च मया सह।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः॥

वनपर्व अ० ३०

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः।
इतरेतरयोनी तौ विद्धि मेघोदधी यथा॥

तत्रैव अ० ३३

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैव प्रसादश्च यस्यैते स सुखी भवेत्॥
दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाऽव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः॥

शान्तिपर्व, मोक्ष अ० ४२

(वनवास के समय में द्रौपदी ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि हे राजा!) आपका राज्य और जीवन धर्म के लिये है जिसको ब्राह्मण, गुरु और देवता जानते हैं। मेरी बुद्धि में आप भीम,

अर्जुन और माद्री के पुत्रों को मेरे साथ त्याग सकते हैं किन्तु धर्म को नहीं त्यागेंगे। धन की प्राप्ति धर्म से होती है और उस धन के दान (सद्व्यय) से धर्म होता है, अतएव मेघ और समुद्र के समान दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। इन्द्रिय-निग्रह, क्षमा, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्य बोलना, पाप से स्वाभाविक निवृत्ति, अहिंसा, सदाचार, कार्यपटुता ये सुख देनेवाली हैं। और भी लिखा है—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥१७३॥
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१७४॥

मनुस्मृति अ० ४

धर्म करने से क्लेश पाने पर भी मन को अधर्माचरण में प्रवृत्त नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि अधर्मियों का उनके पाप के कारण शीघ्र नाश हो जाता है॥१७१॥ जैसे पृथ्वी में बीज बोने से शीघ्र ही उसमें फल नहीं होता, वैसे ही संसार में अधर्म किये जाने पर भी शीघ्र फल नहीं देता, किन्तु धीरे धीरे जब उसके फल के होने का समय

आता है तो कर्ता को जड़ से उखाड़के नाश कर देता है॥१७२॥ अधर्म करने का फल यदि उसके करनेवाले को (इस संसार में ही) न हुआ तो उसके पुत्र को होगा, यदि उसको भी नहीं हुआ तो प्रपौत्र को होगा, किन्तु किया हुआ अधर्म कदापि विना फल दिये न रहेगा ॥१७३॥ अधर्म से प्रारम्भ में कुछ उन्नति करता है, तव अभिलषित वस्तु भी प्राप्त करता है, तत्पश्चात् अपने से निर्वल शत्रुओं को भी जीतता है किन्तु अन्त में मूल सहित नाश हो जाता है ॥ १७४ ॥

प्राचीन और आधुनिक इतिहास और वर्तमान की घटना पर भी दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि मनु का यह कथन, कि अधर्म से प्रारम्भ में कुछ सांसारिक लाभ देखने में आ सकते हैं किन्तु उसका अन्तिम परिणाम सर्वनाश ही है, परम सत्य है और यह नियम सव समय और युग के लिये है और आजकल भी वैसा ही प्रवल है।

और भी लिखा है कि—

एक एव सुहृद्धर्म्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्व्वमन्यद्धि गच्छति ॥
धर्म्मं शनैः सञ्चिनुयात् वल्मीकमिव पुत्तिका ।
परलोकसहायार्थं सर्व्वभूतान्यपीड़यन् ॥२३८॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठति ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२३९॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२४०॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

मनुस्मृति, अध्याय ४

धर्म ही केवल मनुष्य का एकमात्र मित्र है, क्योंकि मरने पर वही मृत व्यक्ति के साथ जाता है, और दूसरी सब वस्तुएँ शरीर के साथ नाश हो जाती हैं। चींटी जैसे मिट्टी का ढेर प्रस्तुत करती है उसी प्रकार, किसी प्राणी को दुःख न देकर परलोक में सहायता पाने के निमित्त थोड़ा थोड़ा करके भी, धर्म इकट्ठा करना चाहिए ॥ २३८ ॥ पिता, माता, स्त्री, पुत्र और जाति के लोग इनमें कोई भी परलोक में सहायता नहीं करते, वहाँ केवल धर्म ही सहायता करता है ॥ २३९ ॥ प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने किये हुए पाप के फल को भोगता है ॥२४०॥ जब बान्धवगण मृत शरीर को काठ और ढेले की भाँति पृथ्वी-तल में छोड़कर मुँह फेर के घर की ओर चलते हैं उस समय एक धर्म ही मृतव्यक्ति का साथ देता है ॥ २४१ ॥ धर्म की सहायता से मनुष्य दुस्तर नरकादि के दुःख से छुटकारा

पाता है, अतएव प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा करके भी परलोक में सहायता पाने के निमित्त धर्म का संग्रह करना चाहिये ॥२४२॥

सबको सब अवस्था में धर्माचरण करना चाहिये—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

बुद्धिमान् अपने को अजर अमर जानकर विद्या की प्राप्ति के निमित्त यत्न करे अर्थात् कभी उसकी प्राप्ति का यत्न न छोड़े; और मृत्यु ने केश पकड़ लिया है ऐसा जान धर्म का आचरण करे अर्थात् उसमें तनिक भी विलम्ब न करे। क्योंकि—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्त्तते ॥ १८ ॥

महाभारत शान्तिपर्व, अ० २९८

मनुष्य के धर्म करने का कोई नियत समय नहीं है और मृत्यु भी मनुष्य की इच्छा को नहीं मानती अर्थात् जब आना चाहती है तब आ जाती है; अतएव सदा धर्म करने में प्रवृत्त रहना उत्तम है, क्योंकि मनुष्य सदा मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ है।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
अकृतेष्वेव कार्य्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥ १९ ॥

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाऽकृतम् ॥ १५ ॥
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्॥ १६ ॥

महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय १७५

जो कल्याणकारी कर्म है उसको अभी करो, तुम्हारा समय व्यर्थ न बीते, किसी कार्य की समाप्ति होने के पूर्व मृत्यु आ जाती है ॥१४॥ जो काम सबेरे करना हो उसको अभी करना चाहिये, अपराह्ण समय के काम को पूर्वाह्ण ही में करना चाहिये, क्योंकि कौन काम इसने किया और कौन काम नहीं किया इसकी मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती ॥ १५ ॥ कौन जानता है कि किसका इस समय मृत्युकाल आ जायगा? अतएव युवावस्था ही में धर्माचरण करना चाहिये, क्योंकि जीवन अनित्य है ।१६॥ सारांश यह है कि केवल यथार्थ धर्माचरण ही दोनों लोकों की सब प्रकार की उन्नति, अभ्युदय और यथार्थ सुख का एक मात्र कारण है, अन्य नहीं ।

कर्म

हम लोग अहङ्कार से प्रेरित होकर शरीर से इन्द्रियों द्वारा जो कुछ कर्मोत्पत्ति किया करते हैं, मन से सङ्कल्प करते हैं,

चित्त से स्मरण करते, सोचते और भावना करते हैं, बुद्धि द्वारा निश्चय करते हैं, और मुख से बोलते हैं उन सबको और उनके फल को कर्म कहते हैं। जैसा कर्म किया जाता है उससे तादृश फल निकलता है अर्थात् अच्छे कर्म का अच्छा फल होता और दुष्ट कर्म का दुष्ट फल होता है। मनु भगवान् का वाक्य है—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

अध्याय १२

शरीर, मन और वचन से जो अच्छा अथवा बुरा कर्म मनुष्य करता है उसके ही अनुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ गति प्राप्त करता है। कर्म का उत्पादक मुख्य रूप से अहङ्कार और मन है। जैसे—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

मनुस्मृति, अ० १२

देहधारी जीव के तन, मन और वचन के आश्रित उत्तम, मध्यम तथा अधम कर्मों का प्रवर्त्तक मन को ही जानो। वे तीनों प्रकार के अधम कर्म नीचे लिखे दश लक्षणों से युक्त रहते हैं—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

मनुस्मृति, अ० १२

अन्याय से दूसरे के धन को किस प्रकार लेंगे ऐसी चिन्ता, किसी का द्रोह सोचना और ऐसा निश्चय रखना कि परलोक कुछ नहीं है और शरीर ही आत्मा है, ये तीन मन के अशुभ कर्म हैं ॥५॥ गाली देना, झूठ बोलना, किसी की अनुपस्थिति में उसकी निन्दा करना और अनावश्यक बातों को बोलना ये चार प्रकार के अशुभ वाचन कर्म हैं ॥६॥ अन्याय से दूसरे की वस्तु का हरण करना, स्वार्थ से किसी को दुःख देना और दूसरे की स्त्री के सङ्ग भोग करना ये तीन प्रकार के अशुभ शारीरिक कर्म हैं ॥ ७ ॥

इस प्राकृतिक जगत् में भी किसी का, वह क्षुद्रातिक्षुद्र क्यों न हो, नाश नहीं होता है किन्तु बाह्य दृष्टि से जो मरण अथवा नाश है वह केवल रूप और उसके साथ नाम का परिवर्तन है। घड़े को तोड़ने से वह टुकड़ा टुकड़ा हो जाता है। उसको पीस देने से चूर्ण हो जायगा, किन्तु कदापि उसका नाश अथवा लोप न होगा। अग्नि में भी वस्तु के पड़ने से वह धूम हो जाता है अथवा अणु का आकार धारण करता है किन्तु

जो सङ्कल्प-विकल्प, भावना, ध्यान और निश्चय करता है उनमें एक का भी नाश नहीं होता और कारण बनकर उसका परिणाम कार्य्य अवश्य होता है। यह भी सृष्टि का नियम है कि जहाँ कर्म का प्रारम्भ होता है वहीं उसका परिणाम आकर शान्त होता है। तड़ाग में एक कङ्कड़ो फेंकिए। जहाँ वह गिरकर आघात करेगी वहाँ से जल में वृत्त बनना प्रारम्भ होगा जो बढ़ते-बढ़ते किनारे तक जायगा और वहाँ रुकावट पाकर वह वापस लौटना प्रारम्भ करेगा और जहाँ प्रारम्भ हुआ था उसी केन्द्र में आकर शान्त अथवा विलीन हो जायगा। इसी प्रकार कर्म का फल कर्त्ता के समीप अवश्य आता और उसके भोगने पर ही समाप्त होता है। इस विश्व-सागर में हम लोगों के शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्म अपने जीवात्मा-रूपी केन्द्र से प्रारम्भ होकर भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक अर्थात् त्रिलोक तक अपना प्रभाव पहुँचाते हैं और स्वर्लोक-रूपी तट पर पहुँचकर और वहाँ आघात पाकर फिर कर्त्ता के पास वापस आते हैं। यही कर्म-फल का तत्त्व है।

कर्म की अदृष्टता

कर्म के फल को अदृष्ट कहते हैं। कारण यह है कि कर्म से जो तात्कालिक परिणाम होता है वह अदृश्य इस प्रकार रहता है—शरीर, वचन और मन द्वारा हम लोग जो कुछ

कर्म करते हैं वे सब प्रथम चित्त में अङ्कित होते हैं और फिर भुवर्लोक (यह लोक इस भूलोक से उच्च, सूक्ष्म और अदृश्य है) में भी चित्रित होते हैं अर्थात् वहाँ इनका चित्र बनता है। लिखा है—

काशमानं महद्दिव्यमाकाशे समुपस्थितम् ।
विचारयन् चित्रगुप्तो मनुष्याणां यथाविधि ॥ २७ ॥
यत्कर्म कुरुते कश्चित् तत्सर्वं लिखति सदा ॥ ३२ ॥

गरुड़ पुराण, अ० २१

चित्रगुप्त विस्तृत दिव्य आकाश में ऊपर रहकर मनुष्यों के कर्म को ठीक-ठीक विचारते हैं। जो व्यक्ति जो कुछ कर्म करता है वह सदा लिखा जाता है। इसका भाव यह है कि सम्पूर्ण भुवर्लोक चित्रगुप्त का खाता है और उसमें जो कर्म के चित्र बनते हैं, जो हम लोगों के लिये गुप्त अर्थात् अदृश्य हैं, वही चित्रगुप्त द्वारा कर्म का लिखा जाना है। इस चित्रण-कार्य्य के अधिष्ठाता यम हैं, इसी लिये उनका नाम चित्रगुप्त यम है। प्रलय तक यह चित्र वर्तमान रहता है।

शास्त्र में लिखा है; देवता लोग इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं—अर्थात् शक्ति देनेवाले हैं जिसके कारण मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा जो भोग करता है उसका रस (सुख) समान स्वभाववाले इन देवताओं को भी मिलता है। इनके अधीन अनेक गण अर्थात् क्षुद्र देवता होते हैं और वे भी उस रस को पाते हैं।

यथार्थ में इस भूलोक, इसके बाद के भुवर्लोक और स्वर्लोक का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है और शक्ति का केन्द्र ऊपर के ही दोनों अन्तरिक्ष लोक हैं जिस शक्ति का कार्य्य यहाँ प्रकट होता है। इस प्रकार काम, क्रोध, द्वेष, लोभ, मोह, मत्सर आदि चित्त के विकारों की प्रबल भावना अथवा उनकी प्रेरणा से जो कर्म होते हैं उनका प्रभाव कर्त्ता के चित्त में पड़ने और भुवर्लोक में अङ्कित और चित्रित होने के सिवा उस कर्म के समान स्वभाव के तमोगुणी रजोगुणी क्षुद्र देवगण भी उस कर्म द्वारा आकर्षित होते हैं। नियम है कि दो समान एक दूसरे को आकर्षित करते हैं और आकर्षित होकर संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार तामसिक राजसिक कर्म द्वारा तामसिक राजसिक क्षुद्र देवगण आकर्षित होकर कर्त्ता के साथ उक्त कर्म के कारण संयुक्त हो जाते हैं और उस कर्म का रस भोगते हैं। वे तब से कर्त्ता पर ऐसा प्रभाव डालते हैं कि वह वैसी भावना अथवा कर्म अधिकता से करे जिसके करने से उनको रस मिलता रहता है। इस प्रकार उस कर्म को अनेक बार करने से इन क्षुद्र देवताओं का सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है और पीछे वह उनके प्रभाव के कारण उस कर्म को परवश की भाँति करता है। यह भी स्वभाव का एक मुख्य कारण है। इसी कारण किसी ख़राब कर्म के करने में जो पहले कुछ रुकावट मालूम होती है वह बार बार करने पर चली जाती है और फिर पीछे उस दुष्ट कर्म के दुष्ट परिणाम को भोगकर छोड़ने

की चाह रखने पर भी मनुष्य छोड़ नहीं सकता है। तब ऐसा हो जाता है कि अनिच्छा रहने पर भी मानो कोई ज़बर्दस्ती उसको उस काम में प्रवृत्त करता है और वह इस प्रकार परवश है। गीता में अर्जुन के श्रीभगवान् से पूछने पर कि मनुष्य अनिच्छा रहने पर भी किस कारण द्वारा प्रेरित होकर पाप करता है (३—३७), उत्तर मिला कि काम और क्रोध बहुत भक्षण करनेवाले और बहुत बड़े पापात्मक हैं और वे ज्ञान को ढक देते हैं (३—३७ और ३९)। इस प्रकार इन क्षुद्र देवताओं के संयोग से काम क्रोध आदि विकारों की भावना अथवा कर्म यथार्थ में भुवर्लोक में मानसिक मूर्ति धारण कर लेते हैं जो अपनी पुष्टि और जीवन के लिये कर्त्ता से उस प्रकार का कर्म बारंबार करवाकर पुष्टि पाते हैं। उक्त मानसिक मूर्त्ति अपने समान अन्य मनुष्य की उत्पादित समान मानसिक मूर्त्ति के साथ संयुक्त होकर उस मनुष्य के वैसे स्वभाव की भी वृद्धि कर देती है और तादृश कर्म के करने में उसको विशेष उत्तेजना देकर वह कर्म करवाती है जिसके लिये वह मनुष्य उत्तरदायी है जिसने अपने कर्म के कारण उस मूर्ति को उत्पन्न किया। इस प्रकार दूसरे द्वारा उत्पादित समान मानसिक मूर्ति समान स्वभाव के मनुष्य की मानसिक मूर्ति में समानता के कारण संयुक्त होकर उस मनुष्य के उक्त प्रकार के स्वभाव की भी वृद्धि करती है। सात्त्विक मानसिक मूर्ति (जो उत्तम भावना और कर्म से उत्पन्न होती है और जिसकी पुष्टि

सात्विक देव करते हैं उस) का भी यही नियम है कि दूसरों के उत्तम स्वभाव की वृद्धि करती और स्वयं भी समान की अन्य सात्विक मूर्ति से संयुक्त हो पुष्ट होती है। जैसे यदि कोई क्रोध की प्रबल भावना अथवा कर्म द्वारा मानसिक मूर्ति उत्पन्न करेगा तो प्रथम वह कर्त्ता को बार बार क्रोध करने के लिये वाध्य कर अधिक पुष्ट होगी और ऐसी पुष्ट मूर्ति दूसरे द्वारा उत्पादित क्रोध की कमज़ोर मूर्ति के साथ संयुक्त होकर उसकी पुष्टि करेगी और तब वह पुष्ट मूर्ति का विशेष प्रभाव उसके कर्त्ता पर पड़ेगा। तब उस दूसरे कर्त्ता के क्रोध की मात्रा अधिक बढ़ जायगी और वह क्रोध के आवेग में अधिक दुष्ट कर्म करेगा। इसी प्रकार दूसरे द्वारा उत्पादित प्रबल क्रोध-सम्बन्धी मानसिक मूर्ति अन्य कर्त्ता की क्रोध-सम्बन्धी मानसिक मूर्ति में संयुक्त होकर इसकी प्रबलता बढ़ावेगी जिसके कारण उक्त स्वभाव और तादृश कर्म की उसमें वृद्धि होगी। यही नियम उत्तम मानसिक मूर्ति का भी है। किन्तु जिसमें कोई विकार नहीं है अथवा जो अशुभ भावना अथवा कर्म नहीं करता, उस पर कोई अशुभ मानसिक मूर्ति आक्रमण नहीं कर सकती; क्योंकि समान ही पर इनका प्रभाव पड़ता है, अन्य पर नहीं। चूँकि सृष्टि मात्र में आत्म-सृष्टि से एकता है (जैसा कि धर्म के प्रकरण में दिखलाया गया है) इसी कारण जो कुछ भावना अथवा कर्म किया जाता है उससे केवल उसके कर्त्ता की ही हानि अथवा लाभ

नहीं होते किन्तु विश्व भर की हानि और लाभ होते हैं। उसी प्रकार दूसरे की भावना और कर्म से भी उस कर्त्ता की समान भावना के कारण हानि और लाभ होते हैं। इस प्रकार दुष्ट भावना अथवा दुष्ट कर्म करके कर्त्ता केवल अपनी ही हानि नहीं करता है किन्तु विश्व भर की हानि करता है। इसी प्रकार शुभ भावना और कर्म करके अपना और विश्व भर का उपकार करता है। यही कारण है कि दुःसङ्गति अत्यन्त हानिप्रद और सत्सङ्गति बड़ी लाभदायक कही गई है और ऐसा ही देखने में भी आता है। किसी दुर्जन के संसर्ग में पड़ने से उस दुर्जन की प्रबल दुष्ट मानसिक मूर्ति कुसंसर्ग में पड़नेवाले के स्वल्प दुष्ट स्वभाव में संयुक्त होकर उसकी वृद्धि कर देती है। सत्सङ्गति में पड़ने से सज्जन की सात्त्विक मानसिक मूर्ति सत्सङ्गी के स्वल्प सात्त्विक स्वभाव की भी वृद्धि करती है। इस कारण हम लोगों को किसी भावना अथवा कर्म के करने में बहुत सावधान रहना चाहिए ताकि कदापि कोई दुष्ट भावना अथवा कर्म न हो पड़े, क्योंकि इससे अपनी हानि के सिवा दूसरों की भी हानि होती है। अतएव दुष्ट भावना और कर्म के रोकने में निरन्तर अध्यवसाय करना चाहिए। किन्तु यदि कोई विशेष सावधान होकर दुष्ट भावना और दुष्ट कर्म के रोकने की इच्छा और चेष्टा में कृतकार्य न हो तो भी यत्न को नहीं त्यागे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक दुष्ट भावना और कर्म के रोकने की चेष्टा करता ही जाय और तब उक्त भावना की उत्पत्ति में कमी

अवश्य होगी। परिणाम यह होगा कि दुष्ट स्वभाव अर्थात् दुष्ट मानसिक मूर्ति की शक्ति का, पुष्टि न मिलने के कारण, ह्रास होगा। दुष्ट भावना के विरुद्ध उसके ठीक प्रतिकूल उत्तम भावना के सोचने में प्रवृत्त होना चाहिए जो भावना और उसकी मानसिक मूर्ति दुष्ट क्षीण-स्वभाव और मूर्ति का लोप कर देगी। क्योंकि प्रबल दुष्ट मानसिक मूर्ति का नाश करना कठिन है, अतएव कदापि बार बार दुष्ट भावना को सोचकर उसको प्रबल नहीं करना चाहिए। ऐसे ही उत्तम भावना के सोचने में प्रवृत्त होने से उत्तम मानसिक मूर्ति बनती है जो उस भावना के बार बार सोचने से और तद्वत् कर्म करने से पुष्ट हो जाती है और तब फिर उसी भावना और कर्म की ओर उस पुरुष की रुचि स्वभावतः जाती है।

इस दृष्टि से कर्म दो प्रकार के हैं। एक व्यक्तिगत और दूसरा समूह-कर्म। व्यक्तिगत वह है जिसका प्रभाव उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो कि उसका कर्त्ता है। दूसरा समूह-कर्म वह है जो सब लोगों के कर्म का एकत्र समूह है जिसका प्रभाव सब पर पड़ता है और सबको उसके फल को थोड़ा थोड़ा भोगना पड़ता है। युगों का आना इसी समूह-कर्म का फल है। व्यापक उत्पात—जैसे भूकम्प, संक्रामक रोग, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अग्नि-भय, जल की बाढ़, मंहगी आदि भी समूह-कर्म के फल हैं जिनसे अनेकों को कष्ट होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अच्छा है किन्तु उस समय का समूह-

कर्म ख़राब है अर्थात् अधिकांश लोग कुत्सित कर्म करते हैं अथवा पूर्व में किये कुत्सित समूह-कर्म के फल की उत्पत्ति का ठीक समय आ गया है तो उस कुत्सित समूह-कर्म का प्रभाव और परिणाम उस पर भी किंचित् पड़ेगा, क्योंकि—जैसा कि धर्म के प्रकरण में दिखलाया गया है—मनुष्य मात्र ही नहीं किन्तु विश्व मात्र आत्मदृष्टि से एक है। अतएव प्रत्येक का यह परम कर्त्तव्य है कि कदापि निन्दित भावना अथवा कर्म की उत्पत्ति न करे, क्योंकि इससे उसकी हानि के सिवा विश्व भर की हानि होती है। इसी प्रकार प्रत्येक को धर्म और विहित कर्म का सम्पादन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इससे वह अपना ही उपकार नहीं करता बल्कि विश्व मात्र का उपकार करता है जो उसका परम कर्त्तव्य है। यही सिद्धान्त साधारण धर्म की भित्ति है। इस प्रकार कर्म को व्यापक समझ सदा विहित और युक्त कर्म के सम्पादन में रत रहना चाहिए, कदापि अविहित और अयुक्त कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि परिणाम विश्व मात्र पर पड़ता है। लिखा है—

अकर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
कर्त्तव्यमेव कर्त्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ॥ ८ ॥

गरुडपुराण अ० ३२

जो करने योग्य कर्म नहीं है उसको कण्ठ में प्राण आने पर भी नहीं करना चाहिए किन्तु केवल कर्त्तव्य कर्म ही करना चाहिए—यही धर्माचार्यों का कथन है।

मृत्यु की परावस्था

मरने के बाद साधारण श्रेणी का व्यक्ति पहिले भुवर्लोक में जाता है और वहां सूक्ष्म शरीर में रहता है जो भुवर्लोक की प्रकृति का बना हुआ होता है। यह शरीर इन्द्रियों की वासना का मुख्य स्थान है। इस भुवर्लोक में सात अन्तर्विभाग हैं। जिस व्यक्ति को संसार में रहने के समय इन्द्रियों के विषय-भोग की वासना अधिक थी और जो विशेषकर उसी की प्राप्ति में यत्नवान् रहता था, उसके सूक्ष्म शरीर में भुवर्लोक के नीचे के भाग के अणु का विशेष भाग रहेगा। वह मरने के बाद भुवर्लोक के नीचे के भाग में, उस भाग के अणु की अधिकता उसमें रहने के कारण, अपने को पावेगा और वहां उसको उन दुष्ट भावनाओं और क्षुद्र सङ्कल्पों का स्फुरण होगा जिनको उसने जीते रहते समय विशेष सोचा था और तादृश कर्म किया था। फिर स्फुरण होने पर वह उन्हीं भावनाओं की चिन्ता करने में प्रवृत्त होगा, किन्तु स्थूल शरीर के अभाव के कारण उन वासनाओं की पूर्ति वह नहीं कर सकेगा जिसके कारण वह अत्यन्त यातना पावेगा। परिणाम यह होगा कि उनका संस्कार उसके चित्त में और भुवर्लोक के नीचे के भाग में बीज रूप से रहेगा। जब दूसरा जन्म लेने के लिये वह जीवात्मा स्वर्लोक से भुवर्लोक में आवेगा तब फिर उन बुरे संस्कारों का उसमें स्फुरण

होगा। वहाँ पर वह उस संस्कार के समान-स्वभाव के भुवर्लोक के अणुओं को (जिनमें उसके पूर्व जन्म के भी अणु रहेंगे) आकर्षित करेगा और उन्हीं से उसका नया सूक्ष्म शरीर प्रस्तुत होगा। उसमें ऐसे विषयवासना के संस्कार दुष्ट स्वभाव इत्यादि रूप में दूसरे जन्म में प्रकाश होंगे, जिसके कारण उसमें स्वभावतः दुष्ट कर्म करने की विशेष प्रवृत्ति होगी। जिस व्यक्ति के इन्द्रिय अपने वश में थे और दुष्ट विषयवासना तथा वैसे कर्म का जिसमें अभाव था वह मरने के बाद अपने को भुवर्लोक के ऊपर के उत्तम विभाग में पावेगा। वहाँ किसी सांसारिक भोग-वासना का (अभाव के कारण) स्फुरण न होने से अभाव रूप दुःख को न पाकर वह सुखी रहेगा। किन्तु जो वैराग्य-सम्पन्न था और जिसमें किञ्चित् भी कोई स्वार्थसम्बन्धी सांसारिक वासना न थी, उसकी स्थिति भुवर्लोक में न होगी; वह सीधा उसके ऊपर के लोक स्वर्ग में चला जायगा। साधारण श्रेणी का व्यक्ति, जिसमें दोनों—उत्तम और दुष्ट—वासना और कर्म रहते हैं, वह भुवर्लोक में आवश्यक काल तक रहकर, उससे छुटकारा पाकर, स्वर्लोक में जाता है*। भुवर्लोक में जिन क्षुद्र, दुष्ट और साधारण भावनाओं तथा कर्मों के मानसिक चित्रों का संस्कार उसके चित्त में था वह संस्कार, स्वर्लोक में जाने पर,

---

* सभी मनुष्य भुवर्लोक के बाद किञ्चित् काल के लिये स्वर्लोक में अवश्य जाते हैं, किन्तु नीची श्रेणी के व्यक्ति स्वर्लोक में सोये हुए की भाँति रहते हैं। उनको वहाँ का विशेष अनुभव नहीं होता।

अप्रकाश भाव से उसके अन्तरपटल के बाह्य भाग में रहता है*। स्वर्लोक में उत्तम भावना और कर्म के मानसिक चित्र के सिवा दुष्ट भावना के चित्र जा नहीं सकते और यहाँ जो उत्तम भावनाएँ सोची गई थीं और उत्तम कर्म किये गये थे उन्हीं का स्फुरण वहाँ होता है; दुष्ट भावना का कदापि नहीं।

स्वर्गलोक में जाने पर जीव की सोची हुई उत्तम भावनाओं और कर्म के जो मानसिक चित्र बने रहते हैं उनका एक एक करके स्फुरण होता है। किसी एक का स्फुरण होते ही वह वहाँ प्रत्यक्ष हो जाता है, अर्थात् उस भावना के अनुसार वह काम करने में प्रवृत्त हो कृतकार्य हो जाता है। तब उसका संस्कार उस जीव में पड़ता है। जैसे किसी को यदि इस

---

* केवल उत्तम भावना से ही कारणशरीर की पुष्टि होती है और केवल उसी का संस्कार उसमें सदा रहने के लिये पड़ता है। किन्तु दुष्ट भावना का संस्कार उसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। जब कोई व्यक्ति स्वर्लोक में जाता है तब भी बुरा संस्कार उसमें संलग्न अवश्य रहता है किन्तु वह कारणशरीर में संलग्न नहीं हो सकता। प्रत्येक जन्म का अन्त होने पर स्थूल और सूक्ष्म शरीर का नाश हो जाता है, केवल कारणशरीर नष्ट न होकर सदा बना रहता है। क्योंकि उत्तम भावना का ही संस्कार कारणशरीर में पड़ता है, अतएव प्रत्येक जन्म में से केवल उत्तम भावना रूप सार ही कारणशरीर को प्राप्त होता है; सिवा उसके अन्य अशुभ संस्कार कारणशरीर में प्रवेश न करने के कारण अन्य कोई उद्देश्य उनसे साधन नहीं होता और उनमें जो शक्ति व्यय होती उससे लाभ के बदले हानि ही होती।

संसार में रहने के समय शास्त्रज्ञ पण्डित होने की तीव्र लालसा थी, किन्तु यत्न करने पर भी पूर्ण नहीं हुई, तो उसके स्वर्ग में जाने पर इस अपूर्ण इच्छा से बना हुआ मानसिक चित्र उसके सामने आवेगा और प्रत्यक्ष हो जायगा। वह अपने को वहाँ यथार्थ में शास्त्रज्ञ पण्डित पावेगा। इस कारण आगामी जन्म में शास्त्रज्ञ पण्डित होने की योग्यता का संस्कार बीज रूप से उसके अभ्यन्तर में पड़ जायगा और दूसरे जन्म में वह अवश्य शास्त्रज्ञ पण्डित होगा। योगवाशिष्ठ में लिखा हुआ है कि मरने के बाद पूर्व के सब सङ्कल्प प्रत्यक्ष भासने लगते हैं। रात्रि में भोजन करके सोने पर जैसे भोजन किये हुए पदार्थ को मनुष्य पचाता है, जो पचकर उसका सार शरीर की पुष्टि के लिये उसका एक भाग हो जाता है वैसे ही स्वर्लोक में मनुष्य अपने उत्तम भावना और कर्म से बने हुए मानसिक चित्र रूप मानसिक भोजन का अनुभव और अभिनय करके परिपक्व करता है और संस्कार-रूपी सार उनमें से निकालकर उससे अपने अन्तर-पटल अथवा कारणशरीर की पुष्टि करता है। शास्त्र में स्वर्गलोक में भोगने की जो बात लिखी है उस भोग का एक तात्पर्य यही है। अपने किये हुए नाना प्रकार के कर्मों के सुखद और दुःखद जो फल उसने जीवन में पाये हैं उन पर विचार करके वह जीवात्मा उससे सार ग्रहण करता है और उसका संस्कार लब्ध कर उसके कारण सचेत और सावधान हो जाता है। इस विचार का ऐसा प्रबल संस्कार उसमें

पड़ जाता है कि उसके कारण उसके बाद के जन्मों में उसकी उन दुःखरूप फल देनेवाले कर्मों की ओर स्वभावतः निवृत्ति रहती है और सुखरूप फल देनेवाले कर्मों की ओर स्वभावतः प्रवृत्ति होती है। इस संस्कार के कारण एक जन्म की उत्तम वासना और इच्छा उसके बाद के जन्म में उसकी योग्यता बन जाती है। वैसे ही बार-बार की सोची हुई भावना के किये कर्म दूसरे जन्म में स्वभाव बनकर प्रकट होते हैं। मनुष्य की आन्तरिक योग्यता—जैसे विचारशक्ति, विद्या प्राप्त करने की शक्ति, उत्तम और उच्च स्वभाव, बुद्धि की तीक्ष्णता, धर्मप्रवणता इत्यादि सद्गुण—पूर्व जन्म की उत्तम भावनाओं और कर्म के परिणाम हैं। वैसे ही क्षुद्रता, इन्द्रियों के दुष्ट विषयों में आसक्ति, अविवेकता, स्वार्थपरायणता, धर्मविमुखता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, मत्सर इत्यादि असद्गुण पूर्व जन्म की दुष्ट भावना के परिणाम हैं। आन्तरिक योग्यता होने के कारण सद्गुण शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, अतएव जो सद्-गुण एक बार प्राप्त होता है वह फिर खोया नहीं जा सकता। यथार्थ आनन्द मनुष्य को आन्तरिक सद्गुण की प्राप्ति ही से होता है और इसी से मनुष्य की यथार्थ उन्नति होती है और दुर्गुण का परिणाम—क्लेश—जन्म-जन्मान्तर में चला जाता है; अत-एव सद्गुण-प्राप्ति और दुर्गुण के नाश करने की विशेष चेष्टा करनी चाहिए जिसके निमित्त उत्तम भावना करने, भक्ति भाव रखने, शुद्ध सङ्कल्प रखने, विवेक बढ़ाने और ज्ञान-प्राप्ति इत्यादि

में विशेष संलग्न रहना चाहिए और इनमें विशेष प्रवृत्ति करनी चाहिए।

जब किसी जीवात्मा के जन्म लेने का समय आता है तो कर्म-देवता—विशेषकर भुवर्लोक के आकाश के कर्म के गुप्त-चित्र के अधिष्ठाता चित्रगुप्त—लोग उस जीव के कर्मों को, जो आकाश में चित्रित रहते हैं और जो चित्रगुप्त का खाता है उसमें, देखकर उसी के अनुसार उस जीवात्मा के निमित्त सबसे प्रथम छाया-शरीर प्रस्तुत करते हैं। जैसे देश, जैसी जाति, जैसे वंश और जैसे माता पिता के घर में जन्म लेने से उसको अपने पूर्व के किये हुए कर्मों के फल भोगने का ठीक-ठीक अवसर मिलेगा, वैसे ही जन्म का निश्चय किया जाता है। ऐसा निश्चय करने पर उपयुक्त माता के गर्भ में उस छायाशरीर को प्रवेश कराया जाता है, और उसके साँचे पर स्थूल शरीर बनता है। यदि कर्मदेवता लोग ऐसा निश्चय करेंगे कि कर्मानुसार किसी जीवात्मा को १० वर्ष की उम्र में ही अन्धा हो जाना चाहिए अथवा १८ वर्ष में उसको अमुक व्याधि होनी चाहिए, जिसको अमुक अवधि तक रहना चाहिए, तब वे उस जीवात्मा को ऐसे गर्भ में जन्म देंगे जहाँ माता-पिता द्वारा उसके लिये ऐसा ही बीज उसके शरीर में आवेगा जिसका उपर्युक्त परिणाम होगा। और छायाशरीर के भी ऐसे नेत्र बनाये जायँगे कि स्थूलशरीर के भी नेत्र उसी अनुसार होने के कारण ठीक १० वें वर्ष में वह अन्धा हो जायगा।

और छाया-शरीर में भी अठारहवें वर्ष में आनेवाली व्याधि का बीज इस परिमाण से रख दिया जायगा कि वह परिपक्व होकर ठीक उसी समय में उक्त व्याधि प्रकट करेगा जो केवल आवश्यक अवधि तक रहेगी।

पूर्व-जन्म के कर्म, भावना और भाव, सङ्कल्पादि के कारण जैसी अवस्था और आन्तरिक योग्यता प्राप्त होती है उसी के अनुसार शरीर, बल, सामर्थ्य और उसी प्रकार बाहरी सामान अर्थात् धन, रूप, मकान, कुटुम्ब-परिवार, वाहन, इत्यादि (पूर्व-जन्म के कर्मानुसार) मिलते हैं। पूर्व-जन्म में यदि किसी मनुष्य ने दुःखियों को अन्न, वस्त्र, औषध इत्यादि देकर सुख दिया और धर्मशाला, तड़ाग, कूआँ, सड़क इत्यादि बनवाकर सर्वसाधारण को सुखी किया है तो दूसरे जन्म में अवश्य सुख देनेवाली अवस्था में सुखद सामग्री के साथ उसका जन्म होगा और पूर्व जन्म में दूसरों के सुखी करने के कारण उसको भी अवश्य सुख मिलेगा। यदि कोई परोपकारी काम, जैसे चिकित्सालय, धर्म्मशाला इत्यादि बनवाने में वह स्वार्थ की दृष्टि से (जैसे यश पाना, सरकार से उपाधि पाना, इत्यादि में) प्रवृत्त हुआ होगा और उत्तम भावनाओं का उसमें अभाव था तो दूसरे जन्म में वह धनी अवश्य होगा और सुख के सामान तो ऐसे पुरुष को अवश्य मिलेंगे किन्तु आन्तरिक योग्यता और सद्गुण उसमें न होंगे। वह मन्द-बुद्धि होगा, स्वार्थी होगा; और स्वार्थपरायण तथा धन से

मदान्ध होकर यदि उस जन्म में दुखियों की दीनदशा देख उन पर दया न करेगा (जैसी कि प्राय: ऐसे लोगों की दशा होती है) और उनकी सहायता न करेगा तो उसके बाद के जन्म में वह दरिद्र होगा। तब वह अपने अनुभव से जानेगा कि दु:ख क्या है, जिसका ज्ञान होने पर वह दु:खियों पर दया करना सीखेगा। यदि कोई किसी उत्तम मानसिक कर्म में (यथा उत्तम उत्तम ईश्वरसम्बन्धी भावनाओं के सोचने में) सदा प्रवृत्त रहता है, किन्तु शरीर से किसी का उपकार नहीं करता, अर्थात् दूसरों को भोजन, वस्त्र, रोग-विमोचन आदि कर्म अथवा उपदेश द्वारा किसी प्रकार शारीरिक सुख नहीं देता है तो ऐसा व्यक्ति दूसरे जन्म में आन्तरिक योग्यता तो बहुत ऊँची श्रेणी की पावेगा और ज्ञानवान् चरित्रवान् सज्जन पण्डित होगा किन्तु बाह्य सुख-सामान की उसे कमी रहेगी। परन्तु ऐसा दरिद्र सज्जन पण्डित उस स्वार्थी और मन्दबुद्धि धनी से अवश्य बहुत उत्तम है; क्योंकि उस धनी का, स्वार्थपरायण होने के कारण, उसके बाद का जन्म बुरा होगा अर्थात् वह दरिद्र होगा और धनी रहने की अवस्था में भी स्वार्थ-लोलुप होने के कारण और विषयवासना के वर्तमान रहने के कारण यथार्थ दु:खी ही बना रहेगा। किन्तु निर्धन पण्डित अपनी आन्तरिक श्रेष्ठ योग्यता और सद्गुण के कारण प्रत्येक जन्म में यथार्थ उन्नति करता जायगा और विशेष रूप से ईश्वर-मुख होता जायगा और अन्त में ईश्वरप्राप्ति करेगा जो कि जीवन का मुख्य लक्ष्य है

और विषय के अभाव के कारण भी दुःखित न होकर यथार्थ में प्रसन्न ही रहेगा, अतएव अभ्यन्तर से सुखी बना रहेगा। क्योंकि विषयासक्ति बन्धन और दुःख का कारण है जिसका उसमें अभाव है। स्वार्थी धनी सद्गुणविहीन होने के कारण यथार्थ आन्तरिक आनन्द को प्राप्त न कर सकेगा, किन्तु निर्धन सदाचारी पण्डित आन्तरिक योग्यता और सद्गुण से विभूषित होने के कारण सदा प्रसन्न रहेगा और आनन्द-लाभ करेगा। यह यथार्थ आनन्द विषयी को कदापि नहीं मिलता है। अतएव लोगों को आन्तरिक योग्यता, सद्गुण, ज्ञान, भक्ति-भाव आदि प्राप्त करने का विशेष यत्न करना चाहिए, क्योंकि यही परम धर्म है और इसी से लोगों का यथार्थ कल्याण है।

तेजस और मानसिक भावना

मनुष्य के मस्तक के चारों ओर सूक्ष्म तेज रहता है और उसमें लोगों की भावनाओं और कर्म का प्रभाव पड़ता है और नियत प्रकार की भावना से नियत प्रकार का रङ्ग उसमें उत्पन्न होता है। जो लोग भीतर से मलिन हैं और जिनका चित्त दुष्ट कर्म के करने में प्रवृत्त रहता है वे ऊपर से कितने ही स्वच्छ और सुन्दर क्यों न रहें और अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध करने का कितना ही यत्न क्यों न करें, किन्तु सूक्ष्मदर्शी योगी की सूक्ष्म दृष्टि के आगे उनके सब दोष प्रकट रहते हैं। वे उनके मस्तक के पार्श्ववर्ती तेज के रङ्गों को देखकर उनके सब चरित्र और

स्वभाव समझ जाते हैं। यही यथार्थ वर्ण की उपयोगिता है जो कि वाह्य दृष्टि में अदृश्य रहता है।

ऊपर कथित सिद्धान्त से यह भली भाँति प्रकट है कि शरीर की क्रिया के सिवा मानसिक भावना का भी बड़ा प्रबल प्रभाव है और यह प्रभाव मनुष्य के इस जन्म से लेकर मरने के वाद लोकान्तर तक, और आगामी जन्म तक चला जाता है। मनुष्य की यथार्थ उन्नति और अवनति मानसिक भावना पर ही विशेषकर निर्भर है। कोई मानसिक भावना व्यर्थ नहीं होती. उसका उत्तम अथवा दुष्ट प्रभाव अवश्य और विशेष होता है। कर्म का कारण भी भावना है, यही कारण है कि शम और दम आदि को ऋषियों ने बड़ा आवश्यक वताया है। हम लोग अपनी मानसिक भावना द्वारा अपना ही हानि-लाभ नहीं करते किन्तु उससे दूसरों का भी हानि-लाभ करते हैं। अतएव मानसिक भावना, सङ्कल्प और वृत्ति के उत्पन्न करने में हम लोगों को सदा और निरन्तर वैसा ही सावधान रहना चाहिए जैसा कि कर्म के लिये। कदापि कोई दु:संकल्प, कुत्सित भावना और दुश्चिन्ता को अन्त:करण में नहीं आने देना चाहिए और यदि आवे तो शीघ्र उनके विरुद्ध शुद्ध भावना द्वारा उनका दमन करना चाहिए। सदा निरन्तर पवित्र भावना, मङ्गल-कामना, शुभचिन्ता, कल्याणकारी और निष्काम परोपकार, ईश्वर में अनुरक्ति आदि के अभ्यास में प्रवृत्त रहना चाहिए।

कर्म-फल अनिवार्य

जो कुछ कर्म किये जाते हैं वे व्यर्थ नहीं होते; कर्त्ता को उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा फल मिलता है। जिस फल के पाने का कर्म किया नहीं गया वह फल मिल नहीं सकता। ऐसा कुछ भी किसी को नहीं हो सकता जो कि उसके किये हुए कर्म का फल न हो, अतएव अवश्य होनेवाला न हो और ऐसा जानकर लोगों को सदा सन्तुष्ट और निर्भय रहना चाहिए। लिखा है—

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्त्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥७५॥

महाभारत, अनुशासनपर्व अध्याय १

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥१६॥

वही, अध्याय १८१

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥७॥

वही, अध्याय ७

जैसे छाया और घाम सदा एक दूसरे के साथ रहता है उसी तरह कर्म और उसका कर्त्ता, कर्म किये जाने के कारण, एक

दूसरे के साथ बँधा रहता है ॥ ७५ ॥ जैसे सहस्रों गौओं में भी बछड़ा अपनी माता ही के निकट पहुँच जाता है वैसे ही पूर्वजन्म-कृत कर्म कर्त्ता के ही निकट जाता है ॥ १६ ॥ इस जन्म में पञ्चेन्द्रिय द्वारा सतत किये हुए कर्म का फल कभी नष्ट नहीं होता, पञ्चेन्द्रिय और छठा आत्मा सर्वदा उसके साक्षी होते हैं ॥ ७ ॥ और भी—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ॥३६॥
शुभाशुभं च यत्कर्म विना भोगान्न च क्षयः ।
भोगेन शुद्धिमाप्नोति ततो मुक्तिर्भवेन्नृणाम् ॥४०॥

ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड, उत्तरार्द्ध अध्याय ८४

बिना भोगे कर्म सौ कोटि कल्प के बीतने पर भी नष्ट नहीं होता, किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ३६ ॥ शुभ और अशुभ कर्म बिना भोगे नष्ट नहीं होते, उनको भोग के पवित्र होता और तब मनुष्य की मुक्ति होती है ॥ ४० ॥ कर्म का फल सबको होता है। लिखा है—

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
प्राज्ञो मूढस्तथा शूरः भजते यादृशं कृतम् ॥४९॥

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १७४

पूर्व-जन्म में जैसा शुभ अथवा अशुभ कर्म किया हुआ रहता है वैसे ही फल विद्वान्, मूढ़ और शूर पाते हैं। क्योंकि—

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥१०॥

महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ६

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥ १३ ॥

भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय २४

शुभ कर्म से सुख मिलता है और पाप कर्म के करने से दुःख होता है। किये हुए का ही फल मनुष्य सर्वत्र पाता है और जो नहीं किया उसका फल कदापि कोई नहीं भोगता। कर्म से जन्तु की उत्पत्ति होती है और उसी से लय भी होता है और कर्म ही द्वारा सुख, दुःख, भय और कुशल प्राप्त होते हैं ॥ १०-१३ ॥ और भी—

येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ७

जिस शरीर से जो कर्म करता है उसी शरीर से उस कर्म का फल पाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

चौपाई

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥

मेटि जाय नहिं राम-रजाई।
कठिन कर्म गति कछु न बसाई॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा।
हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥
काल कर्म बस होहिं गुसाईं।
बरबस राति-दिवस की नाईं।
शुभ अरु अशुभ कर्म अनुहारी।
ईश देइ फल हृदय विचारी॥
करै जो कर्म पाव फल सोई।
निगम नीति अस कह सब कोई॥
कौन काहु दुख सुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥

मानसरामायण

काल भी कर्मानुसार ही लोगों को फल देता है। भागवत स्कन्ध ११, अध्याय २३ में कथा है कि अवन्तीपुरी में एक ब्राह्मण था जो सदा पाप-कर्म में रत रहता था। इस कारण उसको बहुत क्लेश भोगने पड़े। कष्ट पाने पर उसको ज्ञान का उदय हुआ और तब उसने अपने दुःख के कारण के विषय में यों कहा—"नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्माग्रहकर्म्म-कालाः। मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्त्तयेद् यत्॥ ४२॥" मेरे दुःख का कारण न मनुष्य है, न देवता, न

आत्मा, न ग्रह और न काल है; इसका प्रधान कारण तो मन ही है जिसके द्वारा यह संसार-चक्र परिभ्रमित होता है। महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १ में कथा है कि गौतमी नाम की एक साध्वी स्त्री का पुत्र साँप के काटने से मर गया। अर्जुन नामक व्याधा ने उस साँप को पकड़कर गौतमी के पास लाकर उसके मारने की आज्ञा माँगी। गौतमी ने क्षमा करने को कहा किन्तु व्याधा ने नहीं माना। साँप ने कहा कि मैं निर्दोष हूँ, मैंने मृत्यु की प्रेरणा से बालक को काटा है। व्याध ने साँप को छोड़ने से इनकार किया। मृत्यु ने आकर कहा कि न मेरा दोष है और न साँप का। काल की प्रेरणा से मैंने साँप को प्रेरणा कर बालक की मृत्यु करवाई। इस पर काल ने स्वयं आकर कहा—

> न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः।
> किल्विषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः ॥७०॥
> अकरोद्यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम्।
> विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा ॥१७॥
>
> महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १

काल ने कहा कि इस बालक के मरने का दोषी न मैं हूँ, न मृत्यु और न लोभी सर्प है और न हममें से कोई प्रेरक है। अर्जुन! जैसा कर्म इसने किया था उसी कर्म ने इस सर्प को प्रेरणा करके कटवाया। इस बालक के विनाश का हेतु

दूसरा कोई नहीं है। अपने कर्म ही से यह बाधित होता है। और भी लिखा है—

सुखं दुःखं भयं शोकं जरां मृत्युं च जन्म च।
सर्वे कर्मानुरोधेन काल एव करोति च॥

ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड, उत्तरार्द्ध, अध्याय ६०

सुख, दुख, भय, शोक, बुढ़ापा और मरण इन सबको कर्म के अनुसार ही काल भेजता है। और—

न नष्टं दुष्कृतं कर्म सुकृतेन च कर्मणा।
न नष्टं सुकृतं कर्म कृतेन दुष्कृतेन च॥४१॥

वहीं, अध्याय ८४

शुभ कर्म करने से दुष्ट कर्म का नाश नहीं होता और शुभ कर्म भी दुष्ट कर्म के करने से नष्ट नहीं होते अर्थात् शुभ अशुभ दोनों कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं; दोनों आपस में मुजरा नहीं होते। धर्मराज युधिष्ठिर ने केवल एक ही पाप, अश्वत्थामा की मृत्यु के विषय में द्रोण के कर्ण-गोचर में असत्य-भाषण करके, किया किन्तु उनके विशाल पुण्य-पुञ्ज के साथ वह मुजरा न हुआ। और उसके फल को भोगने के लिये मरने के बाद उनको नरक के दरवाज़े पर जाना पड़ा।

विविध-कर्म

कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) सञ्चित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अनेक जन्मों के किये हुए जो कर्म इकट्ठे रहते हैं उनको सञ्चित कर्म कहते हैं। सञ्चित का एक भाग, जिसको किसी एक जन्म में भोगना पड़ता है, प्रारब्ध कर्म है। और प्रति जन्म में जो नूतन कर्म मनुष्य उत्पन्न करता है, जो उसके बाद के जन्म में सञ्चित अथवा प्रारब्ध कर्म हो जाता है, वह क्रियमाण कर्म है। उसके द्वारा कर्म की वृद्धि होती है। प्रारब्ध कर्म भोगने ही से नाश होता है; उसका आना कदापि रुक नहीं सकता अर्थात् प्रारब्ध कर्मानुसार इस जन्म में जिसको जैसी अवस्था में रहना है, जितना धन सम्पत्ति उसके पास होना है और जितनी वस्तु उसे प्राप्त करनी है उतनी अवश्य होगी। उसमें न्यूनाधिक नहीं हो सकता। अतएव वर्तमान पूर्ण रूप से हम लोगों के हाथ में नहीं है, अर्थात् यह प्रारब्ध कर्मानुसार ही रहेगा किन्तु भविष्य अर्थात् पर-जन्म की दशा हम लोगों के हाथ में है। जैसे बीते हुए जन्म का क्रियमाण कर्म ही प्रारब्ध होकर उसके बाद के जन्म की अवस्था का कारण होता है, वैसे ही इस जन्म का क्रियमाण कर्म ही आगामी जन्म में प्रारब्ध कर्म होगा। इस प्रकार भविष्यत् अवश्य लोगों के हाथ में है। प्रारब्ध कर्म की परिधि में पड़के मनुष्य इस जन्म में जैसा कर्म करेगा

तदनुसार ही आगामी जन्म में उसकी अवस्था होगी। आगामी जन्म में वह जैसा होना चाहता हो वैसा कर्म अभी उसको करना चाहिए और तब वह वैसा अवश्य होगा। किन्तु इस नियम को न जानकर, प्रायः लोग क्रियमाण कर्म द्वारा अपनी भविष्यत् की अवस्था को उत्तम बनाने का यत्न न करके, क्रियमाण को केवल वर्तमान अवस्था की उन्नति करने में लगाते हैं। इस जन्म की वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट न हो केवल इसी जन्म में विशेष धनी और सुखी होने के यत्न में प्रवृत्त होते हैं। क्रियमाण कर्म को वर्तमान अवस्था की ही उन्नति के यत्न में लगाते हैं और भविष्यत् की उन्नति के विषय में कहते हैं कि "प्रारब्ध में होगा तो धर्म करेंगे, प्रारब्ध स्वतः करवा देगा"। परिणाम यह होता है कि क्रियमाण कर्म, जिसके द्वारा हम लोग अपनी भविष्यत् उन्नति कर सकते हैं, प्रायः व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि उसको केवल वर्तमान जन्म की अवस्था की उन्नति में लगाते हैं जो प्रारब्ध-कर्मानुसार होने के कारण क्रियमाण से बहुत कम सुधर सकता है, किन्तु उस क्रियमाण कर्म द्वारा जो भविष्यत् की अवस्था अवश्य उत्तम बनेगी वह नहीं की जाती। अतएव हम लोगों के पुरुषार्थ और अध्यवसाय, ठीक मार्ग के अनुसरण न करने के कारण, निष्फल हो जाते हैं। हम लोगों को चाहिए कि प्रारब्ध-कर्म के फल को धैर्य से भोगें, उसके परिमार्जन के निमित्त आवश्यक पुरुषार्थ अवश्य करें और कर्तव्यपालन में शिथिलता कदापि न करें किन्तु भविष्यत् की

उन्नति के लिये यथेष्ट चेष्टा—शुभ कर्म और भावना द्वारा—अवश्य करें। वर्तमान जन्म की अवधि तो बहुत थोड़ी है किन्तु भविष्यत् अनन्त है—भविष्यत्-रूप नदी के प्रवाह में वर्तमान एक बूँद के बराबर है। तथापि वर्त्तमान मुख्य है, क्योंकि इसके उपयुक्त उपयोग द्वारा वर्तमान और भविष्यत् दोनों का सुधार होता है। अतएव इसकी उपेक्षा कदापि नहीं करना चाहिए और व्यर्थ नहीं बिताना चाहिए। इसी प्रकार यदि हम लोग पूरी दृढ़ता से समझेंगे कि शुभ कर्म से ही शुभ फल मिलेंगे, दुष्कर्म के फल अवश्य दुष्ट ही होंगे, सुखद कदापि नहीं, तो हम लोग अवश्य शुभ कर्म का ही अनुसरण करेंगे और दुष्कर्म से कोसों भागेंगे। चूँकि हम लोग कर्म पर, जिसका कारण अभी अदृश्य है, यथार्थ में क्रिया द्वारा विश्वास नहीं करते; परलोक और पुनर्जन्म की परवा नहीं रखते; कर्म के फल को अटल नहीं मानते; दूरदर्शिता के बदले स्वल्प दृष्टि का अवलम्बन करते हैं; इसी कारण हम लोग मोह और प्रमाद में फँसे रहते हैं और धर्म के बदले अधर्म में रत रहते हैं जिसका परिणाम अवश्य दुःख और क्लेश है। अतएव यह आवश्यक है कि हम लोग कर्म और कर्म के फल के अटल होने पर दृढ़ विश्वास रक्खें और व्यवहार में इसको कदापि न भूलें। प्रत्येक कर्म को उस कर्म के फल के परिणाम-रूपी कसौटी पर जाँच लें और तब यदि भविष्यत् में भी वह उत्तम फल देनेवाला मालूम पड़े तो करें, नहीं तो कदापि न करें। कर्म को केवल उसके

तात्कालिक फल के कारण, जो यथार्थ में क्षणिक और स्वल्प होता है, न करना चाहिए किन्तु अवश्य उसके भविष्यत् के परिणाम पर अच्छी तरह विचार करके करना चाहिए। यदि ऐसा मालूम हो कि किसी कर्म का फल तत्काल में किसी प्रकार सुखद और लाभप्रद होगा किन्तु भविष्यत् में उससे दुःख और हानि होगी तो ऐसे कर्म को कदापि नहीं करना चाहिए। अधर्म और अनुचित कर्म के करने से इस लोक में भी सांसारिक लाभ होना पूरा अनिश्चित रहता है और प्रायः ऐसे कर्म से लाभ के बदले यहाँ भी हानि ही होती है, अतएव ऐसा कर्म त्याज्य है। अनुचित कर्म के करने से भी प्रारब्ध के विरुद्ध लाभ न होगा और यदि प्रारब्धानुसार लाभ होना है तो अधर्म और अनुचित कर्म के बदले धर्मोचित कर्म के करने पर भी उक्त लाभ अवश्य होगा और अधर्मोचित कर्म के करने के बुरे फल जो भविष्यत् में अवश्य होंगे उससे बच जायगा, अतएव अधर्माचरण सब अवस्था में हानि-प्रद ही है। ऐसा भी होता है कि वर्तमान में अधर्म की अधिकता से प्रारब्ध के उत्तम फल का भी ह्रास हो जाता है। यह प्रसिद्ध कथा है कि एक पापी को पाँच सौ रुपये की थैली मिलने और पुण्यात्मा को गिरकर पैर में चोट लगने का कारण पूछने पर एक महात्मा ने ऐसा बतलाया—पापी को अपने प्रारब्ध कर्मानुसार आज राज्य मिलना था जो उसके वर्तमान जन्म के दुष्ट कर्म की प्रबलता के कारण ह्रास होकर पाँच सौ रुपये की थैली तक रह गया और पुण्यात्मा को आज

शूली पर चढ़ना था जो वर्तमान जन्म के तीव्र उत्तमाचरण के कारण ह्रास होकर पैर में चोट आने तक हो गया। यह अटल नियम है कि अधर्म और अनुचित कर्म करने पर यदि कुछ लाभ इस लोक में हो भी तो उससे प्रायः हज़ारों गुणा अधिक हानि भविष्यत् में भोगनी पड़ती है जैसा कि अभी पाँच सौ रुपया क़र्ज़ा लेकर भविष्यत् में उसके सूद दर सूद हरजा आदि के साथ पाँच हज़ार रुपये को बड़े कष्ट से भुगतान करना। अतएव ऐसी अदूरदर्शिता का व्यवहार परम मूर्खता और अज्ञता का परिणाम होने से लाभकारी होने के बदले परम हानिकारी है जिसका त्याग अवश्य करना चाहिए। बुद्धिमान् वही है जो किसी कार्य के भविष्यत् परिणाम को समझकर ही कार्य करता है और तत्काल के लाभालाभ को भी भविष्यत् की दृष्टि से देखता है।

दैव और पुरुषकार

प्रारब्ध कर्म के सिद्धान्त का यह तात्पर्य नहीं है कि इसके विश्वास करनेवाले प्रारब्ध के भरोसे रहकर पुरुषार्थ न करें और आलसी तथा अकर्मण्य बन जावें। बीमार होने पर रोग की निवृत्ति की चेष्टा न करे, भूख लगने पर भोजन की प्राप्ति का प्रबन्ध न करे, जीविका के लिये अर्जन न करे। ऐसा कदापि नहीं। प्रारब्ध अर्थात् दैव भी पूर्वजन्मार्जित कर्म का

हो फल है, अतएव वह भी फलीभूत कर्म द्वारा ही होता है और विशेष क्रियमाण कर्म द्वारा इसका ह्रास भी होता है किन्तु एकदम नाश नहीं हो सकता। याज्ञवल्क्यसंहिता का वचन है—

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषाञ्चिदिह जायते ।
इह चामुत्र वै तेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

किसी कर्म का फल यहाँ प्रकट होता है और किसी का वहाँ और मरने के बाद, इसमें भावना ही मुख्य है।

उत्तम कर्म के फल मिलने में दैव (प्रारब्ध) और पुरुषार्थ (वर्तमान क्रियमाण) दोनों प्रधान हैं। एक के बिना दूसरा व्यर्थ है। कर्म-फल मिलने का उद्देश्य प्रारब्ध कर्म का क्षय करवाकर जीवात्मा को उससे धर्माधर्म के ज्ञान का अन्तरात्मा में संस्कार उत्पन्न करवाना है जिससे उसका उपकार होता है, जैसा कि पूर्व के प्रकरण में दिखलाया है। अतएव पुरुषार्थ द्वारा कर्मक्षय और ज्ञान की प्राप्ति में शीघ्रता सम्पादन करना, जो उचित उपाय करने से होगा, कर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है किन्तु अनुकूल है। इसलिये कष्ट और बाधा आने पर उसके मिटाने के लिये उचित धर्मानुकूल यत्न करना परमावश्यक है।

योगवाशिष्ठ के अनेक स्थलों में लिखा है कि पूर्व जन्म का अपना किया हुआ कर्म ही दैव है। मत्स्य-पुराण के १९५ अध्याय में लिखा है कि पूर्व जन्मों के किये हुए कर्मों के संस्कार

और परिणाम को दैव कहते हैं। ऐसा समझना कि "प्रारब्ध में होगा तो स्वतः आवश्यक पदार्थ मिल जायँगे अथवा विवेकी और ज्ञानी हो जाऊँगा, अपने करने से कुछ न होगा" और इसी पर भरोसा रखकर उसके निमित्त यत्न नहीं करना अविवेक है। बिना यत्न किये और केवल प्रारब्ध के भरोसे पर आवश्यकता की पूर्ति और उन्नति साधारणतः न होगी। लिखा है—

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्त्तते।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥२०॥
कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्त्तते।
न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचिद्दातुमर्हति ॥२२॥

महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ६

जो मनुष्य पुरुषार्थ न करके केवल दैव पर भरोसा रखता है वह व्यर्थ परिश्रम करता है, जैसे नपुंसक पुरुष को पाकर स्त्री का परिश्रम वृथा है।

और भी—

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ १५१ ॥
दैवे पुरुषकारे च कर्म-सिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदैहिकम् ॥ ३४९ ॥

याज्ञवल्क्य०, अ० ३

जैसे केवल एक पहिये के चलने से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना पुरुषार्थ के दैव (प्रारब्ध) की सिद्धि नहीं होती। दैव और पुरुषार्थ दोनों से कर्म की सिद्धि होती है, क्योंकि पूर्व जन्म का किया हुआ कर्म ही दैव है।

अतएव पुरुषार्थ करने ही पर उसके अनुसार दैव (पूर्व जन्मार्जित कर्म) फल देता है किन्तु पुरुषार्थ न करने पर किसी को दैव कुछ नहीं दे सकता। जो एक जन्म में अपनी योग्यता और अवसर को कर्तव्यपालन, कर्म-सञ्चय और परोपकारी कर्म आदि शुभ कर्म के करने में और ईश्वर की तुष्टि में लगाता है उसको उस जन्म में उनके द्वारा प्रारब्ध के सुधरने के सिवा दूसरे जन्म में उनका शुभ फल अवश्य मिलता है। इसके सिवा उसको विशेष योग्यता और अवसर उन कामों के करने के लिये मिलते हैं। किन्तु जिसने अपने अवसर को व्यर्थ जाने दिया अर्थात् जिस उत्तम और उपकारी कर्म के करने योग्य वह था उनको नहीं किया, वह दूसरे जन्म में ऐसा होगा कि उन कर्मों के करने की तीव्र लालसा तो उसमें रहेगी किन्तु उनके करने की योग्यता वह अपने में नहीं पावेगा अथवा अवसर नहीं प्राप्त होगा, जिसके कारण अत्यन्त दुःखित होगा। जिस पुरुष को अपने किसी आश्रित का पालन-पोषण करना था किन्तु उसको जिसने नहीं किया और पालन पोषण करने के बदले उसकी हानि की वह आश्रित,

जिसकी उसने हानि की, दूसरे जन्म में उसका एक मात्र पुत्र होकर जन्म लेगा और युवा होने के पहिले मरके उसको पुत्रशोक दे कर्म का बदला सधावेगा। एक जन्म में जिसको हम लोग व्यर्थ घृणा करते, हानि करते और शत्रु समझते हैं, वही प्रायः दूसरे जन्म में हम लोगों का सम्बन्धी अथवा पड़ोसी अथवा सरोकारी होकर जन्म लेता है जिसके साथ प्रायः सदा विरोध ही बना रहता है और उसके द्वारा दुःख भोगना पड़ता है।

पूर्ण ज्ञानी सिद्ध अथवा योगी प्रायः प्रारब्ध कर्म के वेग को कम कर दे सकते हैं जो उनको अपने प्रारब्ध कर्म का ज्ञान हो जाने के कारण होता है। यदि उनको जान पड़ेगा कि पूर्वजन्म में जो उन्होंने अमुक श्रेणी के पशुओं को दुःख दिया था उसका फल अमुक समय में अमुक रूप में आवेगा तो उसके बहुत पूर्व ही से वे ऐसा कर्म करना प्रारम्भ करेंगे जिससे उस श्रेणी के पशुओं को सुख मिलेगा जिसके कारण आनेवाले प्रारब्ध कर्म की कठिनाई बहुत कम हो जायगी। ऐसे ही वे अन्य दुष्ट प्रारब्ध कर्म के विरुद्ध उपयुक्त उत्तम कर्म को ठीक समय पर उपयुक्त प्रकार से करके उसका बहुत कुछ ह्रास कर दे सकते हैं। यह भी नियम है कि अत्युत्कट पुण्य और पाप के कर्म का फल यहीं मिल जाता है। लिखा है—

त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते॥

अत्यन्त उत्कट पाप अथवा पुण्य के करने पर इसी जन्म में तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिन में फल मिलता है।

कर्म में अविश्वास

आजकल जन-साधारण को कर्म और अवश्यम्भावी कर्म के फल पर ठीक विश्वास नहीं है। लोग दृढ़ निश्चय करके यह नहीं समझते कि कर्म अनिवार्य्य है और कर्म्म करने पर उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। लोग यह भी नहीं समझते कि उनकी वर्त्तमान अच्छी अथवा बुरी अवस्था अपने किये हुए पूर्वकर्म का फल है और धर्म के अभ्यास से ही सुधरेगी अन्यथा नहीं। यदि कर्म पर विश्वास किसी प्रकार सिद्धान्त की भाँति हो भी तथापि लोग उक्त विश्वास को व्यवहार में एकदम भूल जाते हैं और कार्य्य में परिणत नहीं करते। इसके अनुसार कार्य्य नहीं करना चाहते, जिसके कारण वे धोखा खाते हैं और बुरे कर्म के करने के कारण बड़े-बड़े क्लेश पाते हैं और तब पछताते हैं जो व्यर्थ है। यदि लोगों को ठीक ठीक यह दृढ़ विश्वास व्यवहार में रहे कि किसी दुष्ट कर्म का अनिष्ट फल उनको अवश्य भोगना पड़ेगा और उस कर्म के करने से जो क्षणिक और स्वल्प सुख मिलने की आशा उनको है उसकी अपेक्षा भविष्यत् में उसके दुष्ट फल से जो दुःख मिलेगा उसकी

मात्रा बहुत अधिक होगी, तो वे कदापि उस दुष्ट कर्म को नहीं करेंगे। बहुत लोग किसी कार्य्य अथवा मनोरथ की सफलता के लिये दुष्ट कर्म का भी अवलम्बन करते हैं किन्तु यह नितान्त भूल है, क्योंकि उसमें लाभ रूपी फल तभी होगा जब कि प्रारब्ध के अनुसार वह मिलनेवाला होगा किन्तु वह तो बिना दुष्ट कर्म किये भी होगा; बल्कि प्रारब्ध के अनुसार जो लाभ होना है उसमें, दुष्ट कर्म के करने से, कुछ कमी हो जायगी। कौन ऐसा है जिसको यदि यह ठीक मालूम रहे कि आज किसी से दस रुपये कर्जा लेने पर और उस रुपये की सामग्री से सुख पाने पर भी एक सप्ताह के बाद उसको दस रुपये के बदले एक सौ रुपये देने होंगे और उनके देने की सामर्थ्य उसमें न रहने के कारण बहुत समय तक दासवृत्ति करके उस ऋण का उसको परिशोध करना होगा तो भी वह ऐसी अवस्था को समझ दस रुपये कर्जा ले? कोई भी नहीं। किन्तु ऐसा ही काम हम लोग प्रतिदिन कर रहे हैं। क्षणिक सुख के लिये इन्द्रिय का दुष्ट विषय-भोग-रूपी कर्जा प्रकृति के रज और तम गुण से हम लोग लेते हैं जो शीघ्र समाप्त हो जाता है। उससे सुख भी नाम मात्र का होता है जिसका परिणाम यहीं प्रायः व्याधि, शोक, अर्थ-नाश आदि तक मिल जाता है। इस प्रकार इस जन्म और कई जन्म तक बाद में भी वह कर्ज सूद दर सूद लगाके हम लोगों को, अनेक क्लेशों को भोगकर,

सधाना पड़ता है। दुःख मिलने की अनिच्छा रहने पर भी स्वभाव के वश में उस विषय-भोग का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है। उक्त दासत्व की अवस्था में स्वास्थ्य, सुख, शान्ति, धर्म, तेज, बल, विद्या, ज्ञान आदि जो आन्तरिक बपौती विभव है और जो आनन्द और शान्ति के देनेवाले तथा कल्याण करनेवाले हैं उनको स्वाहा कर दिवालिया हो जाना पड़ता है।

यदि किसी कर्म से तत्काल में कुछ क्लेश भी सहना पड़े, किन्तु भविष्यत् में वह सुखद हो और वह सुख दीर्घ काल तक रहनेवाला हो तो उस कर्म को अवश्य करना चाहिए। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक सुख के वर्णन हैं जिनमें राजसिक और तामसिक सुख त्याज्य हैं और केवल सात्त्विक ग्राह्य है। लिखा है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अ० १८

जो भोगकाल में विष के समान दुःखकर है किन्तु परिणाम में अमृततुल्य है ऐसा सुख, जो आत्मा में बुद्धि की

स्थिति होने से मिलता है, सात्विक सुख है। जो सुख इन्द्रिय के विषय के संयोग से प्राप्त होता है और भोगकाल में अमृत के समान सुखद है, किन्तु परिणाम में विष के समान दुःखद है वह राजसिक सुख है। जो सुख प्रारम्भ और अन्त दोनों कालों में मोह का करनेवाला है और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद (अज्ञान) से उत्पन्न है वह तामसिक सुख है। हम लोगों को तामस और राजस सुख को हानिकारी जान, त्यागकर, केवल सात्विक सुख की प्राप्ति में यत्नवान् और प्रवृत्त होना चाहिए। बुरे कर्म का अन्ततः अवश्य बुरा परिणाम होता है और उससे हानि और दुःख अवश्य मिलते हैं। अनिश्चित, स्वल्प और संदिग्ध फल के लिये दुष्ट कर्म करके पीछे बहुत बड़ी विपत्ति में पड़ना बड़ी मूर्खता है। अतएव सदा उत्तम भावना के चिन्तन में, उक्त कर्म के सम्पादन में और ईश्वर के प्रीत्यर्थ लोक-हित कर्म को श्रद्धा और निष्काम भाव से करने में प्रवृत्त रहना चाहिये।

दुःख-मित्र

दुष्ट कर्म के दुःख और क्लेश रूपी फल इसी लिये दिये जाते हैं कि जीव दुःख पाकर सचेत हो जाय और उस दुःख के अनुभव को प्राप्त कर उसका कारण दुष्ट कर्म और उससे अवश्य होनेवाले बुरे परिणाम को समझ जाय, और तब

से उसके करने में उसकी फिर प्रवृत्ति न हो किन्तु आन्तरिक घृणा अथवा उपेक्षा उत्पन्न हो जाय। प्रारम्भ में ऐसी घृणा आवश्यक है। अतएव हम लोग जो बुरे कर्म के फलस्वरूप दुःख और क्लेश भोगते हैं उनसे यथार्थ में बड़ा लाभ होता है और वे उपकार ही करते हैं। दुष्ट कर्म के फल-रूप दुःखों के आने का उद्देश्य यही है कि हम लोग उनके कार्य्य-कारण के सम्बन्ध पर अच्छी तरह विचार करें और उससे ज्ञान को प्राप्त कर उसको हृदयङ्गम करें और बुरे कर्म के फिर न करने का दृढ़ निश्चय प्राप्त करें जिसको सदा स्मरण रखकर कार्य्य में परिणत करें। कर्मफल-अनिवार्य प्रकरण में ब्रह्मवैवर्त पुराण के जो वचन दिये गये हैं कि कर्म के फल को भोगने से पवित्रता होती है उसका यही तात्पर्य्य है। गीता का वचन है कि श्रीभगवान् सब प्राणियों के सुहृद् हैं (५—२९ और ९—१८) और दुःख की उत्पत्ति भी उन्हीं से है (१०—४) इसका भी यही तात्पर्य है कि दुःख, कष्ट देकर, चेतावनी देता है और इस प्रकार ज्ञान द्वारा पाप से निवृत्त करने का यत्न करता है। अतएव जब दुःख आवे तो उसके द्वारा श्रीभगवान् की कृपा की प्राप्ति समझना चाहिए कि दुःख द्वारा ज्ञान प्राप्त कर दुष्ट वासना की निवृत्ति के लिये यह प्रसाद की भाँति आया है। यही कारण है कि धर्मात्मा प्रायः दुःख भोगते हैं जो यथार्थ में उनके हित के लिये आता है; और पापात्मा सुख में देखे जाते हैं जो उनके प्रारब्ध कर्म का फल है। किन्तु

उसके द्वारा उनकी शुद्धि नहीं होती। जो कोई ऐसा विवेक विचार नहीं करता और उसके अभाव के कारण दुष्ट कर्म के करने से नहीं रुकता, वह बार-बार अधिक से अधिक दुःख पाता रहता है जिससे उसका छुटकारा बिना अपने कुत्सित स्वभाव के बदले नहीं होगा। दुःख आने पर सभी कोई अधीर और व्यग्र हो जाते हैं और बड़ी कातरता दिखलाते हैं। उससे छूटने के लिये अनेक प्रकार की सहायता चाहते हैं और उपाय भी करते हैं और उनकी दुरवस्था को देखकर दूसरों को भी दया आती है। किन्तु शोक की बात है कि अधिकांश लोग आजकल यह नहीं समझते कि उनके दुःख और क्लेश के यथार्थ कारण उन्हीं के किये दुष्ट कर्म हैं, अन्य कुछ नहीं; और उनका आना तभी बन्द होगा जब कि वे दुष्ट कर्म करने से निवृत्त होंगे। आजकल यथार्थ में अधिकांश लोग कर्मफल के सिद्धान्त को व्यवहार में एकदम भूले हुए हैं जैसा कि कहा जा चुका है और अनेक दुःख झेलने पर भी दुष्ट कर्म से निवृत्ति का भाव उनके चित्त में नहीं आता है किन्तु वे बाह्य कर्म (अनुष्ठान आदि) और अन्य अनुपयुक्त यत्न द्वारा उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते हैं जो प्रायः निष्फल है। दुःख के आने का यथार्थ उद्देश्य जीव को पाप कर्म से निवृत्त करना है और जब तक ऐसी निवृत्ति का भाव अन्तर में नहीं आवेगा, तब तक दुष्ट कर्म भी होते ही रहेंगे और उनके दुःखरूपी फल भी अवश्य आते ही रहेंगे। कितने ऐसे भी हैं जो दुःख

के आने पर किञ्चित् सचेत हो जाते हैं और उस समय पाप-कर्म के न करने की प्रतिज्ञा भी करते हैं किन्तु दुःख के चले जाने पर उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं रहते और फिर पूर्ववत् दुष्ट कर्म करने लगते हैं। ऐसे लोगों को बड़े वेग से क्लेश और दुःख होते हैं क्योंकि वे चेतावनी को पाकर भी उपेक्षा करते हैं और जब तक उनकी आँख नहीं खुलती तब तक भोगते रहते हैं। हम लोग इस बड़ी अदूरदर्शिता और अज्ञान के कारण निरन्तर दुःख के सागर में पड़े रहते हैं और क्लेश पर क्लेश झेलते रहते हैं। दुःख पाने पर जिस दुष्ट कर्म के कारण दुःख हुआ उसका ज्ञान अन्तरात्मा के भीतर अङ्कित हो जाता है, और इसी का नाम "संस्कार" है। जिस पापकर्म के दुष्ट फल का ज्ञान और अनुभव उसमें संस्काररूप से अच्छी तरह अङ्कित हो गया उसके करने में उसकी प्रवृत्ति दूसरे जन्म में कदापि नहीं होती है। यही कारण है कि दो व्यक्ति, एक परिवार और समान शिक्षा और सङ्गत में रहने पर भी, पूर्व संस्कार के अनुसार भिन्न-भिन्न रुचि रखते हैं। यद्यपि स्थूल शरीर के अभिमानी "विश्व" नामक जीवात्मा को पुनर्जन्म की घटनाओं की स्मृति नहीं रहती क्योंकि स्थूल शरीर प्रत्येक जन्म में बदलता है, किन्तु उनका ज्ञान कारणशरीर के अभिमानी को, जिसका नाम "प्राज्ञ" है, रहता है और उक्त ज्ञान का "संस्कार" रूप में ज्ञान स्थूल शरीर के अभिमानी पर अङ्कित कर दिया जाता है। "मरण की परावस्था" प्रकरण में यह कहा

जा चुका है। हम लोगों का कल्याण इसके समझ लेने में है कि कर्म के फल को अवश्य भोगना होगा—बुरे कर्म के फल बुरे होंगे और उत्तम कर्म के उत्तम होंगे और बुरे कर्म के करने में जो किञ्चित् तत्काल में लाभ अथवा सुख मिलने की सम्भावना भी मालूम पड़े तो भी उस कर्म को नहीं करना चाहिए। प्रथमतः यह समझ लें कि यदि प्रारब्धानुसार उक्त लाभ अथवा सुख मिलने होंगे तो, उक्त बुरे कर्म के न करने पर भी, वे कभी न कभी साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से मिल ही जायँगे और यदि न मिलनेवाले होंगे तो उक्त बुरे कर्म के करने पर भी उनकी प्राप्ति न होगी। यदि ऐसा भी मान लिया जाय कि उक्त बुरे कर्म द्वारा उक्त लाभ अवश्य मिलेंगे तथापि वह कर्तव्य नहीं है। क्योंकि सांसारिक लाभ नाशवान् है और किसी सांसारिक लाभ से यथार्थ सुख कदापि नहीं मिल सकता, और जो तात्कालिक सुख भ्रम के कारण दीख पड़ता है वह यथार्थ में सुख नहीं दुःख ही है। भविष्यत् में बुरे कर्म के बुरे फल जो भोगने पड़ते हैं वे अत्यन्त कठोर और दुःसह होते हैं। यदि कभी दुःख आ पड़े तो उसके आने पर व्यर्थ मनस्ताप करने और दैव को अन्यायी समझने के बदले उससे लाभ उठाने का यत्न करना चाहिए जो दुःख के आने का यथार्थ उद्देश्य है। दुःख आने पर समझना चाहिए कि यह मेरे पूर्वकृत दुष्ट कर्म का फल है जिसका करना अनुचित था किन्तु अज्ञानवश और परिणाम का विचार न करने से किया गया। अब उसके

लिये शुद्ध हृदय से उसे पश्चात्ताप करना चाहिए और दुःख को धैर्य से सहकर दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि भविष्यत् में कदापि दुष्ट कर्म का आचरण नहीं करेंगे और सदा धर्म और न्याय में स्थित रहेंगे; किसी को किसी प्रकार की हानि न करेंगे अथवा इन्द्रियों की वहकावट में न पड़ेंगे। ऐसी प्रतिज्ञा को सदा स्मरण रखना चाहिए और इसके विरुद्ध कदापि नहीं चलना चाहिए। यदि दुःख आने पर उसको अपने दुष्ट कर्म का फल मान उससे ज्ञान प्राप्त करें और अपने दोषों की जाँच कर उनको समूल नष्ट करने का यत्न करें और दुष्ट कर्म के करने से आन्तरिक घृणा अथवा दृढ़ उपेक्षा पैदा करें तो अवश्य बहुत बड़ा लाभ होगा और फिर किसी दुःख के आने की आशङ्का न रहेगी क्योंकि उनके कारण दुष्ट कर्म के करने से निवृत्ति हो जायगी। अतएव दुःख के आने पर धैर्य के साथ उसको भोगना चाहिए और घबराने के बदले यह समझकर प्रसन्न रहना चाहिए कि उक्त दुःख उपकार करने के लिये आया है, उसके भोगने पर अन्तरात्मा को ज्ञान हो जायगा जिससे फिर वह दुष्ट कर्म नहीं करेगा और इस प्रकार भविष्य में दुःख आने की सम्भावना न रहेगी किन्तु ज्ञान के कारण सुख मिलेगा।

उपसंहार

नाना प्रकार की स्वार्थ-कामना, विषय-भोग की वासना इत्यादि के कारण कर्म की अत्यन्त वृद्धि होती है, क्योंकि वासना ही जन्म-मरण का यथार्थ कारण है। वासना में एक विचित्रता यह है कि इसकी पूर्ति कदापि नहीं होती, वरन् एक की पूर्ति होने से उसके बाद दस की उत्पत्ति होती है। जैसा कि अग्नि में घी के देने से अग्नि शान्त न होकर बढ़ती है, वही दशा तृष्णा की है।

आनन्द की चाह करना और दुःख से निवृत्त रहना सबका आन्तरिक स्वभाव है किन्तु शोक है कि कर्म के तत्त्व का ज्ञान न रखकर हम लोग वही कर्म करते हैं जिससे दुःख मिलेगा और दुःख की निवृत्ति तथा यथार्थ सुख की प्राप्ति के कर्म की अवहेला करते हैं। आश्चर्य यह है कि ऐसा करने पर भी चाह सुख ही की रखते हैं, दुःख की नहीं। यही अज्ञान है। कहावत है कि "रोपे पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय"। हम लोगों का यथार्थ कल्याण इसी में है कि न तो किसी दुष्ट वासना और भावना को चित्त में आने दें और न कोई अनुचित कर्म करें किन्तु शुभ भावना और शुभ कर्म के सम्पादन में और ज्ञान की प्राप्ति में सदा निरत रहें। यथार्थ में मनुष्यजीवन परम दुर्लभ है और कर्म, बन्धन का कारण न होकर,

परम हितकारी है। कर्म के सदुपयोग से परम पुरुषार्थ और शाश्वत पद का लाभ हो सकता है। देवता लोग इस भूलोक में मनुष्य-शरीर धारण करने के लिये तरसते हैं; क्योंकि उनके लोक और शरीर केवल भोग के लिये हैं, कर्म के लिये नहीं जिसके कारण वे अपनी अवस्था से उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। यह मर्त्य-लोक कर्म-भूमि है और मनुष्य-शरीर कर्म-क्षेत्र है जिसके कारण मनुष्य अपने कर्म द्वारा ब्रह्म-लोक से भी ऊपर जा सकता है। श्रीमद्-भागवत एकादश स्कन्ध का वचन है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत्,
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्व्वतः स्यात् ॥२९॥
नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥१७॥

अ० २०

यह मनुष्य-शरीर यद्यपि अनित्य है फिर भी दुर्लभ है। यह कई जन्मों के बाद बड़े भाग्य से मिलता है। यह शरीर पुरुषार्थ यानी मुक्ति का साधन है। नरदेह क्षणभंगुर है,

क्या जाने कब इस पर मृत्यु का आक्रमण हो जाय, अतएव उससे पहले ही मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न विवेकी पुरुष को कर लेना चाहिए। विषय-भोग तो पशु आदि निकृष्ट योनि में भी प्राप्त हो जाते हैं। अतएव उनकी प्राप्ति के लिये इस मूल्यवान् अवसर का दुरुपयोग करना ठीक नहीं। यह नर-देह एक नौका है जो सब फलों को देती है। यह अभागों के लिये बहुत ही दुर्लभ और भाग्यवानों के लिये सुलभ है; परम पटु गुरु ही इस नौका के कर्णधार हैं और अनुकूल वायुरूप मैं ही इसका सञ्चालक हूँ। जो व्यक्ति ऐसी नाव के द्वारा भवसागर के पार जाने का प्रयत्न नहीं करता वह निरा आत्म-घाती है। दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर जीवात्मा का परम कर्त्तव्य है कि उसका परम कारण परमात्मा जो सच्चिदानन्द घन हैं उनकी प्राप्ति अवश्य करे जिसके करने ही से उसके ताप-त्रय की निवृत्ति होगी और परमानन्द की प्राप्ति होगी, अन्यथा कदापि नहीं। इस प्राप्ति में कर्म का सुधार मुख्य है जिसको अवश्य करना चाहिये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः